वर्तमान कृषि संकट

1997–98 से ही देश में किसान आत्महत्याओं की रिपोर्ट आने लगी थी। उस वक्त इन्हें अपवाद माना गया। परन्तु तब से लेकर अब तक यह सिलसिला अविराम चलता रहा है। दूसरी बात यह है कि यह घटनाक्रम आंध्र प्रदेश के किन्हीं दो–एक जिलों तक सीमित नहीं रहा है। हैदराबाद को छोड़कर, आंध्र प्रदेश के हर जिले में किसानों ने आत्महत्याएं की हैं। आन्ध्र प्रदेश ही नहीं देश के अन्य प्रांतों में भी किसानों ने आत्महत्याएँ की हैं, इनमें जहां बिहार–उड़ीसा जैसे पिछड़े प्रांत शामिल हैं वहीं पंजाब जैसे उन्नत प्रांत भी शामिल हैं। आत्महत्या करने वालों में सीमांत किसान (सामान्यतः अर्ध–सर्वहारा) और छोटे व मझले किसान हैं। आत्महत्या करने वाले न केवल पुरूष हैं, उनमें किसानी करने वाली महिलाएं भी शामिल हैं। विगत दिनों में ऐसे किसान परिवारों के बारे में भी सूचनाएं प्राप्त हुई हैं जहां पहली आत्महत्या के बाद परिवार के अन्य सदस्यों ने भी खुदकुशी की है। आत्महत्याओं के साथ–साथ पर्याप्त मात्रा में ऐसी भी खबरें प्राप्त होती रही हैं कि किसान अपने शरीर के अंग (मसलन–गुर्दे) बेच रहे हैं। अर्थात, समय बीतने के साथ यह साफ होता चला गया कि ये घटनाएं भारतीय कृषि की सामान्य गति में अपवाद नहीं हैं, बल्कि ये उसके भीतर घटने वाली एक नयी परिघटना है। ऐसे में स्वाभाविक है कि संवेदनशील बुद्धिजीवी और कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इस नयी परिघटना को अपने संज्ञान में लें, इसका विश्लेषण करें, और इस त्रासदी के खिलाफ रोकने या हल्का करने के लिये राजनीतिक कार्यवाहियां करें।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर के भीतर से इस गम्भीर विषय पर अनेक टिप्पणियां व लेख लिखे जा चुके है। तब उसी कड़ी में एक और लेख लिखने का औचित्य क्या है

लिखने की मुख्य वजह पहले से मौजूद विश्लेषण की अपूर्णता व अपर्याप्तता है। हमें खेद के साथ कहना पड़ रहा है इस गम्भीर विषय पर शिविर के भीतर से अधिकांश लेखन, सरकारी अधिकारियों को दिये जाने वाले किसी ज्ञापन के स्तर का है, जहां कुछ गहराई में उतरकर विश्लेषण करने के प्रयास हुए भी है वहां भी सामान्यतः विश्लेषण उसी संकीर्णता में कैद है जिनमें सुधारवादियों का विश्लेषण या 'फ्रंटलाइन' जैसी पत्रिकाओं का विश्लेषण कैद है। इस विश्लेषण की सामान्य पहुंच 1990 के दशक में ही सीमित है और सामान्य निष्कर्ष यही है कि यह संकट निजीकरण– उदारीकरण–वैश्वीकरण ;स्च्ळद्ध की नीतियों का परिणाम है। ऐसी संकीर्णता के कारण इस त्रासदी का समाधान सुधारवादी बने रहने के लिए अभिशप्त है। यदि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर के बिरादर अपने विश्लेषण को मार्क्सवादी बनाने का प्रयास करते; यदि वे अपने आप को 1990 के दशक के नीतिगत परिवर्तनों से आगे बढ़ाकर भारतीय कृषि के भीतर सक्रिय दीर्घकालिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में भी यह तफ्तीश करते, यदि वे परिघटना को जन्म देने वाली सभी 'ऐतिहासिक–आर्थिक स्थितियों', को उसकी गत्यात्मकता में समझने का प्रयास करते तो इस बात की प्रबल संभावना है कि वे इस परिघटना के संदर्भ में वे आज किसानों से जैसी जो बातें कर रहे है उससे काफी भिन्न बातें, उनके प्रचार व उद्वेलन में होतीं। ऐसे में इस बात की प्रबल संभावना थी कि उनके व संसदीय वामपंथ के बीच अंतर करने के लिए किसान को केवल उनके कर्म (उनके समर्पण व त्याग) को ही देखना न पड़ता बल्कि वह दोनों पक्षों की राजनीतिक बातों में भी स्पष्ट

विभाजक रेखा खींची हुई पाता। चूंकि हमारे शिविर के वर्तमान विश्लेषण की स्थिति ऐसी नहीं है, अतः कृषि संकट पर यह एक और लेख।

हम इस बात से इंकार नहीं कर रहे हैं कि 1990 के दशक की 'नयी आर्थिक नीतियों' की कृषकों की वर्तमान तबाही में अहम भूमिका है। हम इस तथ्य को स्वीकारते हैं। मगर हमारा कहना है कि 1990 के दशक के इन कारकों के अलावा भारतीय कृषि में ऐसे दीर्घकालिक कारक सक्रिय हैं जिनकी वजह से संकट मूलतः उत्पन्न हो रहा है। यदि ये दीर्घकालिक प्रवृत्तियां इतनी बुनियादी महत्व की न होती तो इस बात की बहुत क्षीण संभावना थी कि 1990 के दशक की 'नयी आर्थिक नीतियां' वैसी तबाही ढ़ाती जैसी 1997–98 के बाद से देखने में आयी हैं। ऐसा कोई भी विश्लेषण जो इन दीर्घकालिक प्रवृत्तियों को नजरअंदाज करता है (और उनके संदर्भ में '90 की नयी आर्थिक नीतियों को अवस्थित नहीं करता), विश्लेषक के समाधान को सुधारवाद की परिधि में बांध देता है और उसे क्रांतिकारी निष्कर्षों तक पहुंचने से रोकता है। इस लेख में हम उन दीर्घकालिक प्रवृत्तियों को चिह्नित करने का प्रयास करेंगे। आगे हम यह देखेंगे कि वे कैसे अपनी सामान्य गति में ही भारतीय कृषि को संकटग्रस्त बना दे रही हैं। फिर हम यह देखेंगे कि कैसे '90 के दशक में सक्रिय हुए नये कारकों ने कृषि संकट को और विकराल बनाया। लेख के अन्त में हम इस समस्या के समाधान के प्रति सही अवस्थिति को स्थापित करने का प्रयास करेंगे। इस पूरे लेख में हम मार्क्सवादी शिक्षकों के प्राधिकार का सहारा लेंगे। गुरूजनों के उद्धरणों का उपयोग हमारी इच्छा नहीं, कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन की वर्तमान स्थिति में हमारी मजबूरी है। इस लेख में जहां हम संकीर्णतावादी पहुंच का विरोध करेंगे; जहां हम निम्न–बुर्जुआ दृष्टिकोण की जगह सर्वहारा दृष्टिकोण को स्थापित करने का प्रयास करेंगे; वहीं हम आर्थिक नियतिवादी रवैये के संदर्भ में भी कुछ बातें कहेंगे। उक्त पूरक कार्यभार को हाथ में लेने की जरूरत इसलिए है क्योंकि विगत दिनों में भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में कृषि संकट पर सर्वहारा पहुंच स्थापित करने वाले अनेक शूरमाओं ने मार्क्स व लेनिन की बातों को इस हद तक खींच दिया है कि संकटग्रस्त स्थितियों में वे अपने वर्ग–बंधुओं (छोटे किसानों) का साथ देना ही भूल चले हैं।

I

सबसे पहले भारतीय कृषि से सम्बन्धित कुछ आंकड़े और उन पर आधारित कुछ लेखाचित्र। पिछली आधी शताब्दी के दौरान भारतीय कृषि ने जो स्वरूप ग्रहण किया है, ये आंकड़े और लेखाचित्र उस स्वरूप को समझने में बहुत मददगार हैं।

भारतीय कृषि के संदर्भ में भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी दो महत्वपूर्ण बातें कहते रहे हैं। एक यह कि यह अर्द्ध–सामन्ती ठहराव की शिकार है, कि अंग्रेजों के जाने के बाद भी यह ठहराव जस का तस बना रहा है और जब तक सर्वहारा के नेतृत्व में जनवादी क्रांति नहीं हो जाती तब तक कृषि में ठहराव की स्थिति मूलतः बनी ही रहेगी। दूसरी बात यह कि वर्णसंकर बीजों व हरित क्रांति के अन्य नुस्खों से

शुरूआत में भारतीय कृषि में कुछ तेजी आयी लेकिन बहुत जल्द हरित क्रांति के प्रयोग की हवा निकल गयी और भारतीय कृषि पुनः ठहराव का शिकार हो गयी। ऐसी दोनों तरह की बातें करते हुए हमारे साथी दलील देते रहे हैं कि भारतीय कृषि की उत्पादक शक्तियों का विकास तभी हो पायेगा जब "जमींन जोतने वाले की" नारे के आधार पर भूमि सुधार हों। ये सारी बातें गलत हैं। ये मनगढ़ंत बातें हैं। जीवन के ठोस तथ्य इसके ठीक उलटे हैं। भारतीय कृषि आज कतई ठहराव की शिकार नहीं है। उसकी उत्पादक शक्तियों का लगातार विकास हो रहा है। भारतीय कृषि का निरपेक्ष विकास तो हो ही रहा है, आबादी में वृद्धि के सापेक्ष भी यह विकास स्पष्टतः दिखायी पड़ता है।

तालिका – 1

वर्ष	देश की कुल आबादी	कुल खाद्यान्न उत्पादन	रासायनिक खाद की खपत	कृषि में विद्युत उपयोग	खाद्यान्न उत्पादकता
	(करोड़ में)	(करोड़ टन में)	(लाख टन में)	(अरब कि.वा. घं में)	(किग्रा/हैक्टेयर में)
1950-51	35.9	05.08	00.69	00.199	उप.नहीं
1960-61	43.4	08.2	02.92	01.014	710
1970-71	54.1	10.8	21.8	05.69	872
1980-81	67.9	12.95	55.2	21.26	1023
1985-86	75.5	15.05	उप.नहीं	32.54	1175
1990-91	83.3	17.64	125.5	69.78	1380
1995-96	92.2	18.04	138.77	117.39	1491
1996-97	94.1	19.94	143.08	118.77	1614
1997-98	96.0	19.23	161.9	126.51	1552
1998-99	97.8	20.36	167.9	140.83	1627
1999-00	99.6	20. 98	180.7	140.36	1704
2000-01	101.5	19.68	167.0	133.87	1626
2001-02	103.3	21.29	173. 6	130.90	1732
2002-03	105.1	17.42	160.9	उप.नहीं	1562
2003-04	106.8	21.08	174.7	उप.नही	उप.नहीं

(ये सभी आंकड़े भारत सरकार के विभिन्न सालाना'आर्थिक सर्वेक्षण' एवं रिजर्व बैंक के 'Hand book of statistics' से लिए गये हैं।)

लेखाचित्र–१
आबादी

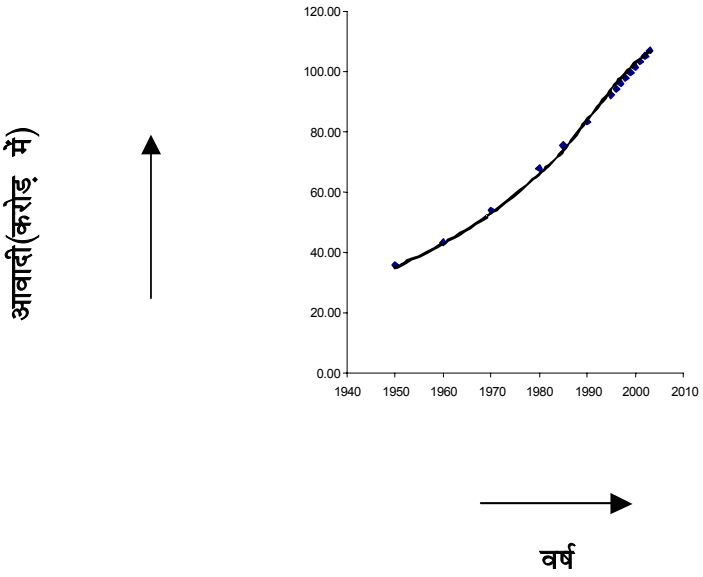
आबादी(करोड़ में)
120.00
100.00
80.00
60.00
40.00
20.00
0.00
1940
1950
1960
1970
1980
1990
2000
2010
वर्ष

लेखाचित्र–२

खाद्यान्न उत्पादन

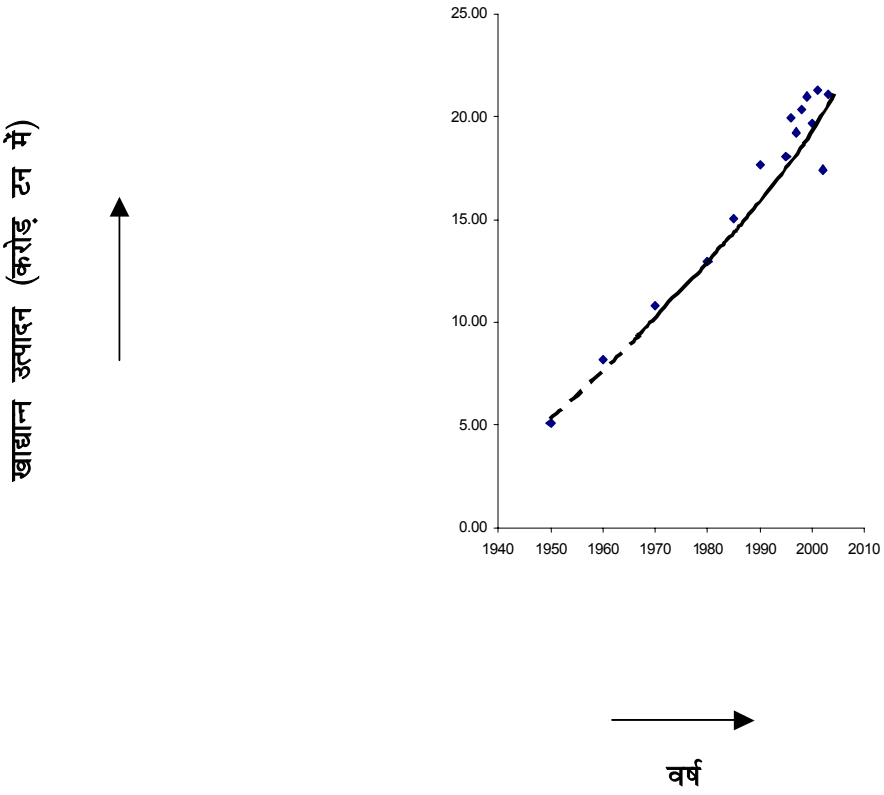

लेखाचित्र –3

रासायनिक खाद की खपत

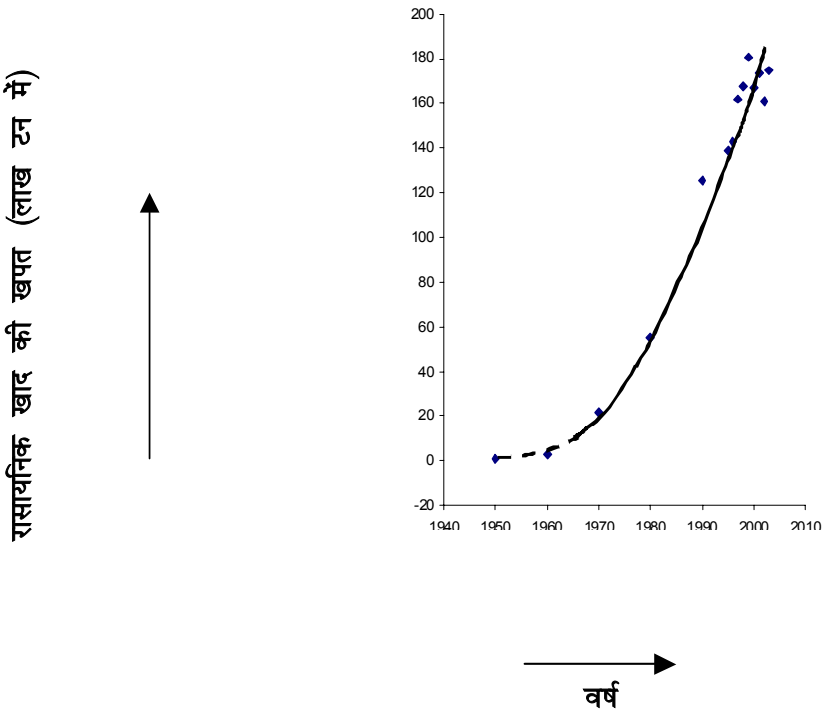

लेखाचित्र–4
कृषि में विद्युत उपयोग

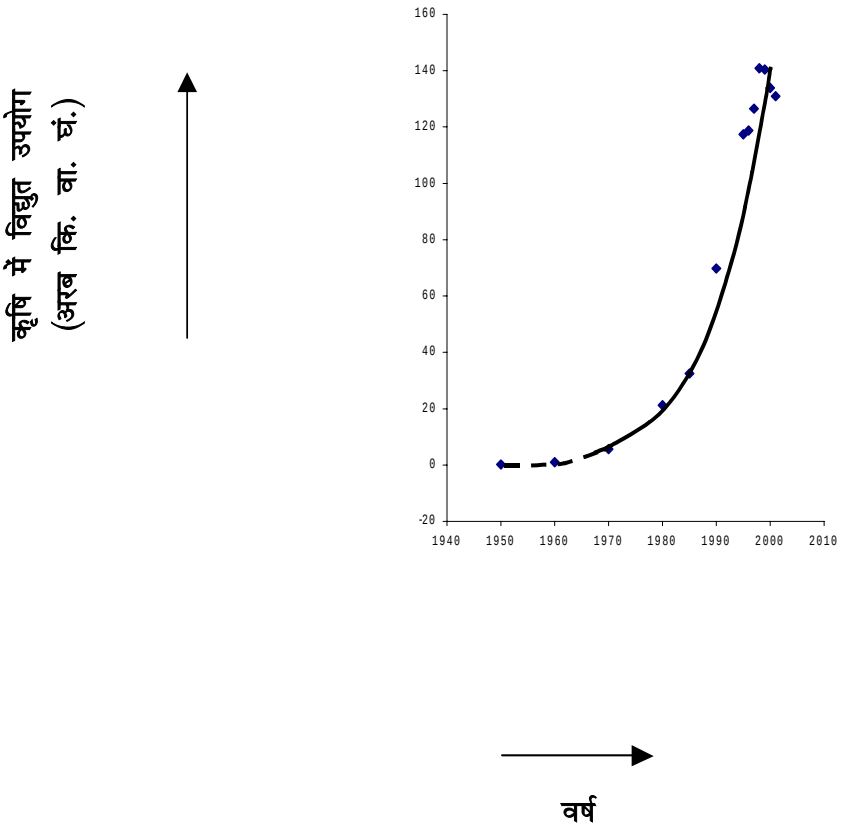

लेखाचित्र–5

खाद्यान्न उत्पादकता

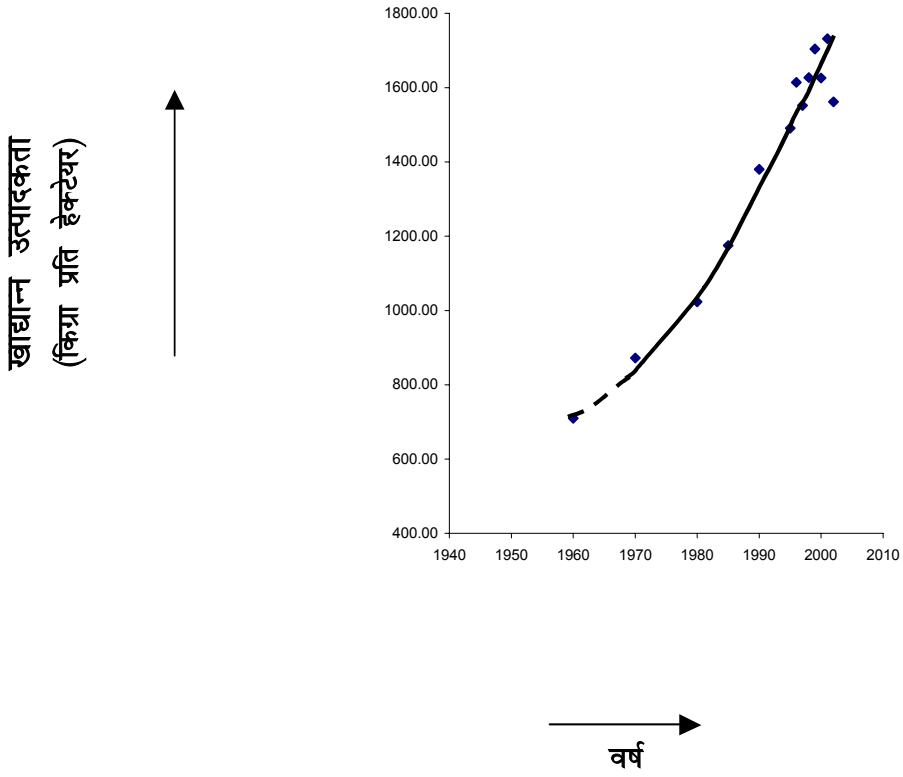

लेखाचित्र-6

खाद्यान्न उत्पादन में इस्तेमाल कुल क्षेत्रफल

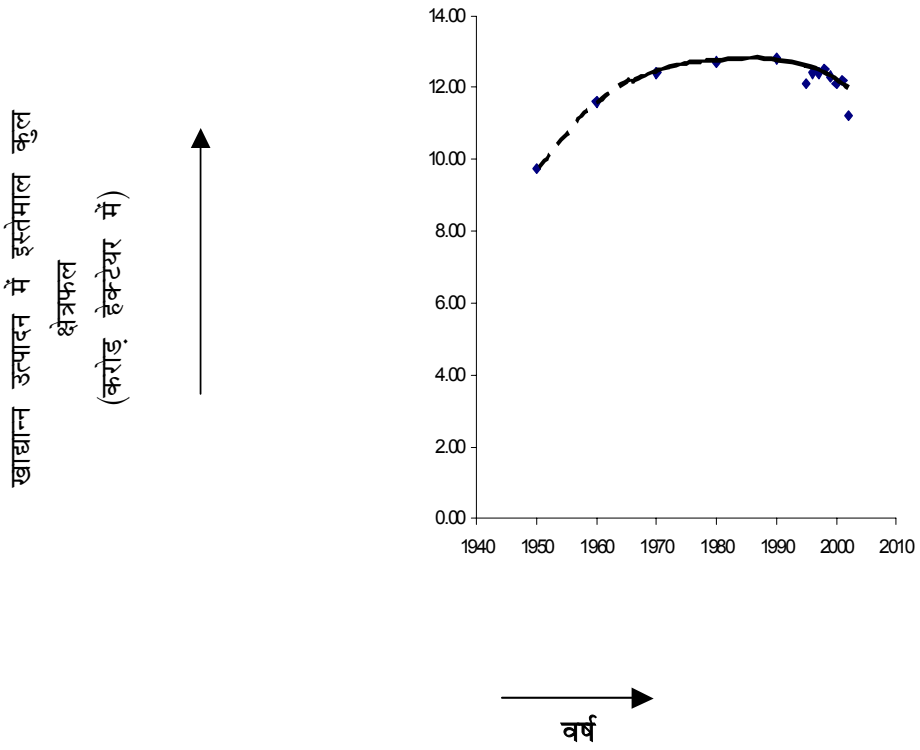

लेखाचित्र–7

प्रति किलो खाद्यान्न उत्पादन के लिए प्रयुक्त रासायनिक खाद

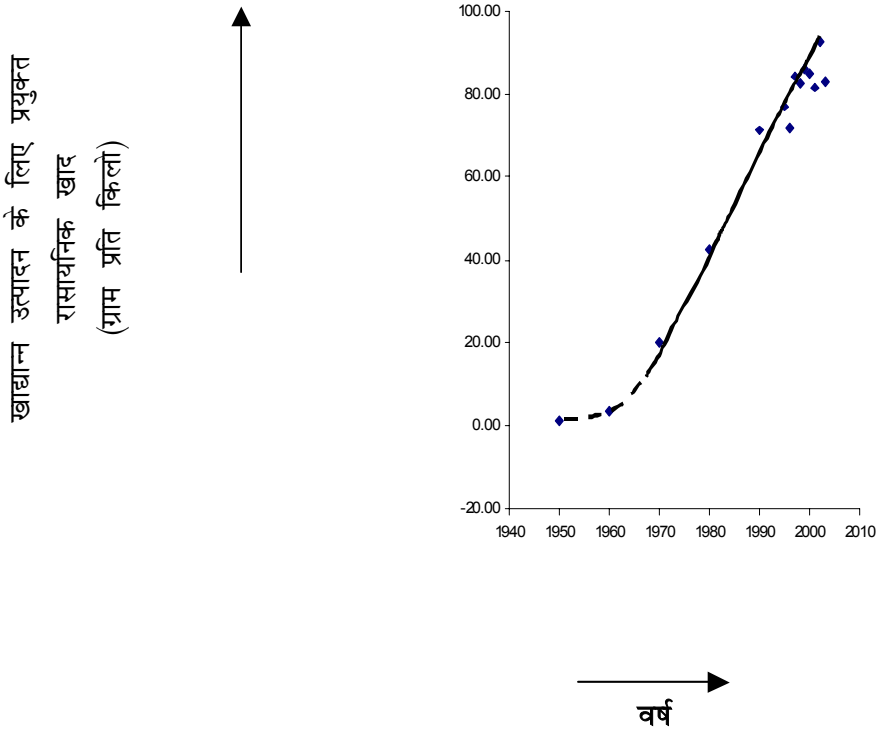

लेखाचित्र–8

प्रति टन खाद्यान्न उत्पादन के लिए प्रयुक्त विद्युत

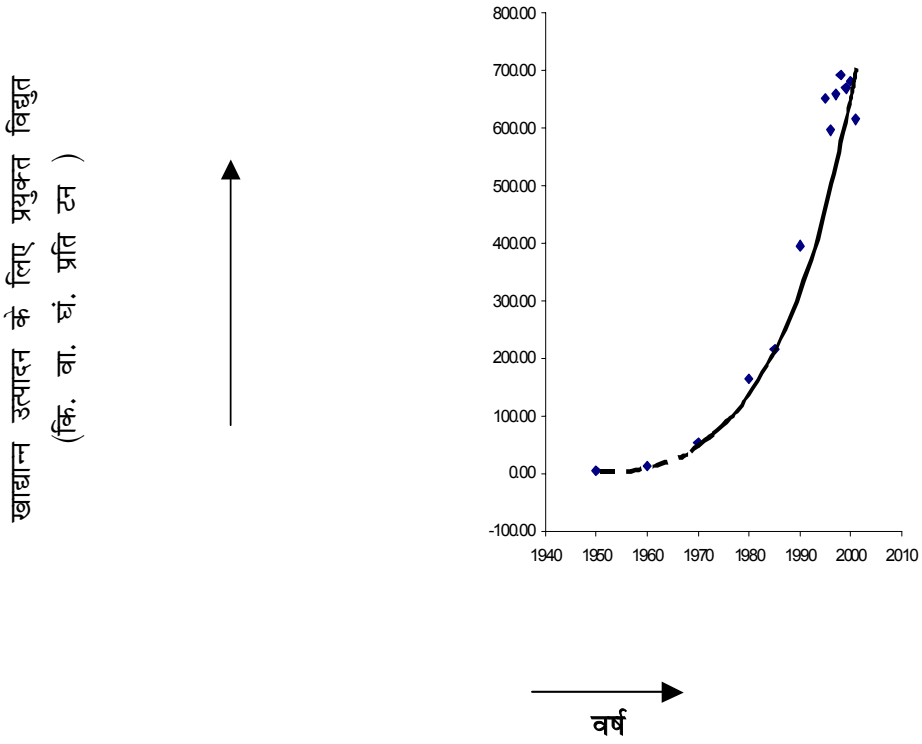

लेखाचित्र–1 में आबादी की वृद्धि दर्शायी गयी है। लेखा चित्र–2 में देश में खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि दर्शायी गयी है। आंकड़ों या लेखाचित्र–1 को देखने से साफ पता चलता है कि पिछली आधी शताब्दी में भारत में जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। आबादी की वृद्धि दर में शुरू के वर्षों में तेजी और बाद के वर्षों में गिरावट है (जिसे लेखाचित्र का हल्का झुकाव अभिव्यक्त करता है)। आंकड़ों या लेखाचित्र – 2 को देखने पर इतनी ही स्पष्टता से पता चलता है कि खाद्यान्न उत्पादन में भी वैसी ही तेज वृद्धि हुई है, बल्कि इस लेखाचित्र के आकार में कोई झुकाव नहीं है, यह लगभग सीधी रेखा है। अर्थात्, खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि दर में अभी तक गिरावट की कोई प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती है। आंकड़ों की तुलना से भी यह पता चलता है कि 1950–51 से लेकर अब तक जहां आबादी तीन गुना बढ़ी है वहीं खाद्यान्न उत्पादन में चार गुना वृद्धि हुई है। यदि किसी समाज की आबादी में तीव्र वृद्धि हो रही हो और खाद्यान्न उत्पादन भी उसी अनुपात में लगातार बढ़ता रहे (वैसे भारत में यह अनुपात खाद्यान्न उत्पादन के पक्ष में झुका हुआ भी है), तो यह मानना कि उसकी कृषि अर्द्ध–सामन्ती ठहराव की शिकार है सरासर मनगढ़ंत बात है।

लेखाचित्र 3 व 4 कृषि में प्रयोग होने वाली दो ऐसी वस्तुओं (रासायनिक खाद एवं बिजली) से सम्बन्धित हैं जिन्हें कृषक केवल उद्योग से प्राप्त कर सकते हैं। इन लेखाचित्रों का आकार सीधी रेखा का भी नहीं है। ये ऊपर उठते हुए वक्र हैं, जिनसे साफ पता चलता है कि भारतीय कृषि उत्तरोत्तर बढ़ते हुये पैमाने पर इन मालों का प्रयोग कर रही है। जहां एक ओर इसके ठहराव (शाश्वत ठहराव या बाद के वर्षों का ठहराव, दोनों) की थीसिस रद्द होती है, वहीं दूसरी ओर इससे यह भी स्थापित होता है कि भारतीय किसान बढ़ते पैमाने पर बाजार अर्थव्यवस्था (market economy) से जुड़ता जा रहा है और अब वह मूलतः निजी उपभोग के लिए उत्पादन नहीं कर सकता है।

सबसे दिलचस्प निष्कर्ष लेखाचित्र–5 से निकलते हैं। इसे देखने पर साफ पता चलता है कि केवल खाद्यान्न उत्पादन ही नहीं बढ़ रहा है बल्कि खाद्यान्न उत्पादकता में भी लगातार वृद्धि हो रही है। अर्थात, उत्पादन में वृद्धि का कारण खेती के लिये उपयोग में लाया जाने वाला नया क्षेत्रफल न होकर खेती की सघनता में स्पष्ट वृद्धि है। खेती की सघनता में इजाफा कहीं से भी सामंतवाद या अर्द्ध–सामन्तवाद का लक्षण नहीं होता है। यह स्पष्टतः पूंजीवाद का लक्षण होता है।

हमारे लेखाचित्रों में जो वक्र हैं उनका शुरूआती हिस्सा टूटी हुयी रेखा के बतौर दर्शाया गया है। '60 के दशक के मध्य से यह टूटी हुयी रेखा खत्म कर दी गयी है। हमने ऐसा इसलिए किया है क्योंकि हम भारतीय कृषि के हरित क्रांति कालखंड को उसके पहले के कालखंड से अलग दर्शाना चाहते हैं। ऐसा करने के पीछे हमारी मंशा यह है कि हम साबित कर सकें कि वक्र में निरंतरता है और कोई तीव्र मोड़ नहीं है। अर्थात हमारा अभिप्राय यह है कि हम जिन दीर्घकालिक प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे वे हरित क्रांति की तकनीक की बदौलत सक्रिय नहीं हुई, वे उससे पहले भी कार्यशील थीं हालांकि हरित क्रांति ने इन्हें वेग प्रदान किया।

तालिका–1 और उस पर आधारित लेखाचित्रों को प्रस्तुत करने का मुख्य उद्देश्य उस चौखटे को परिभाषित करना था जिसमें 1997–98 से किसान अपने अंग बेच रहे हैं, आत्महत्याएं कर रहे हैं। ऊपर हमने भारतीय कृषि की बहुत आम तस्वीर पेश की है। इसमें कोई भ्रम नहीं होना चाहिये कि पूरे देश में

एक समान पूंजीवादी विकास नहीं होता है और न ही यह कि सारे उत्पादक उससे एक ही हद तक और एक ही तरह प्रभावित होते हैं। इस आम तस्वीर को थोड़ा भी बारीकी से परखा जाय तो हमारे सामने परत–दर–परत असमानताएं एवं अन्तरविरोध खुलने लगते हैं, परन्तु असमानताओं और अन्तरविरोधों की मौजूदगी का मतलब यह नहीं होता है कि पूंजीवादी विकास नहीं हो रहा है। अन्तरविरोधों के जरिये ही पूंजीवाद अस्तित्व में आता है और वह असमानताओं को बढ़ाता भी है। इसी तरह मूल उत्पादकों की दरिद्रता या वेदनामयी जिन्दगी को देख कर यह मान लेना कि समाज का पूंजीवादी विकास नहीं हो रहा होगा भी ऐसे ही गलत है। कृषि संकट की प्रकृति और इसके अंजाम को ठीक से समझने के लिए सबसे

पहले यह जरूरी है कि भारतीय कृषि के पूंजीवादी चरित्र को स्वीकारा जाय। यदि हम भारतीय कृषि के बारे में प्राकृतिक अर्थव्यवस्था की पुरानी धारणा से ही चिपके रहेंगे और बाजार तंत्र से उसके गहरे जुड़ाव को अस्वीकार करते रहेंगे, तो यह संभव नहीं है कि वर्तमान कृषि संकट को हम ठीक से समझ सकेंगे। संयोगवश इस संकट के बारे में हमारे शिविर के साथियों ने जो थोड़ी–बहुत ठीक समझ बनायी है, वह इसलिए बनी है कि क्योंकि अपने विश्लेषण के दौरान उन्होंने अर्द्ध–सामन्तवाद के चौखटे को थोड़ी देर के लिये छोड़ा है और बाजार तंत्र से कृषि के गहरे जुड़ाव के नंगे तथ्यों को स्वीकारा है

II

तालिका–1 में प्रस्तुत आंकड़ों के साथ हम थोड़ा गुणा–भाग करेंगे और एक नयी तालिका तैयार करेंगे। नयी तालिका के आधार पर हम कुछ और लेखाचित्र तैयार करेंगे। नयी तालिका हमने इसलिए तैयार की, क्योंकि हम समझना चाहते थे कि विभिन्न वर्षों में खाद्यान्न की कोई एक इकाई पैदा करने के लिए क्या उतनी ही रासायनिक खाद और बिजली इस्तेमाल करनी पड़ती है? इसके लिए हमने विभिन्न वर्षों में कुल उत्पादित खाद्यान्न को उस वर्ष कृषि में उपयोग की गयी कुल बिजली (या प्रयोग की गयी कुल रासायनिक खाद) की मात्रा से भाग दे दिया। प्रारम्भिक अंकगणित की उक्त क्रिया के नतीजे भारतीय कृषि को अर्द्ध–सामन्ती स्वीकारने वालों को हैरान कर देते हैं और पूंजीवादी मानने वालों को कृषि संकट की उत्पत्ति समझने की कुंजी प्रदान कर देते हैं। नयी तालिका में केवल एक कालम में नये आंकड़े हैं। ये खाद्यान्न उत्पादन के लिये पूरे देश में बोये गये क्षेत्रफल के आंकड़े हैं। नयी तालिका इस प्रकार है,

तालिका –2			
वर्ष	खाद्यान्न उत्पादन के लिए इस्तेमाल किया गया क्षेत्रफल (करोड़ हैक्टेयर में)	प्रति किलो खाद्यान्न उत्पादन के लिए प्रयुक्त रासायनिक खाद (ग्राम/किलो में)	प्रति टन खाद्यान्न के लिए प्रयुक्त बिद्युत (कि.वा.घं./टन में)
1950-51	9.73	1.4	3.92
1960-61	11.6	3.6	12.37
1970-71	12.4	20.2	52.68
1980-81	12.7	42.6	164.17
1985-86	उप.नहीं	उप.नहीं	216.2
1990-91	12.8	71.2	395.58
1995-96	12.1	76.9	650.72
1996-97	12.4	71.8	595.64
1997-98	12.4	84.2	657.88
1998-99	12.5	82.4	91.7
1999-00	12.3	86.1	669.02
2000-01	12.1	84.9	680.23
2001-02	12.2	81.5	614.84
2002-03	11.2	92.5	उप.नहीं
2003-04	उप.नहीं	82.9	उप.नहीं

लेखाचित्र – 6 खाद्यान्न उत्पादन के लिए इस्तेमाल किये गये कुल क्षेत्रफल के आंकड़ों के आधार पर तैयार किया गया है। इसका वक्र पहले ऊपर उठता है, फिर समतल हो जाता है और फिर हल्का सा झुक जाता है। यह साफ दिखाता है कि खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्रफल में कोई बहुत उल्लेखनीय वृद्धि नहीं

हुई है। यानी कि पिछले 3 दशकों में खाद्यान्न उत्पादन में जो वृद्धि हुई है वह मूलतः खेती की सघनता में बढ़ोत्तरी के फलस्वरूप हुई है, नये वैज्ञानिक तौर–तरीकों के प्रयोग के परिणामस्वरूप हो रही है।

लेखाचित्र – 8 अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि ये भारतीय कृषि के संकट की प्रकृति को उजागर करता है। इसके अनुसार भारतीय कृषि में जैसे–जैसे उत्पादन बढ़ा है, वैसे–वैसे प्रयुक्त बिजली की मात्रा में **बढ़ते अनुपात** में वृद्धि करनी पड़ी है। अर्द्ध–सामन्ती ढांचे के भीतर ऐसा नहीं होता है। वहां खेती की सघनता में वृद्धि की कोशिशें नहीं की जाती हैं। वहां बढ़ते पैमाने पर रासायनिक खाद, बिजली, कीटनाशक, मशीनरी अथवा अन्य सामग्री का उपयोग नहीं किया जाता है; इससे आगे **बढ़ते अनुपात** में निवेश का तो उस चौखटे के भीतर सवाल ही नहीं उठता है। लेखाचित्र – 7 भी प्रति किग्रा अनाज उत्पादन के लिए बढ़ती मात्रा में खाद के उपयोग को दिखाता है।

खेत से ज्यादा उपज लेने के लिए बढ़ते अनुपात में निवेश करते रहने की परिघटना को कैसे समझा जाये? इसके क्या परिणाम निकलते हैं?

पूरे देश के लिए इस बात का मतलब यह है कि खेतों के आकार को बढ़ाये बगैर उत्पादन तो बढ़ाया जा सकता है, मगर उत्पादन बढ़ोत्तरी की हर अगली इकाई को पाने के लिए देश को ज्यादा निवेश करना पड़ेगा। यह बात तकनीक के एक स्तर के लिए ही लागू होती है। यदि खेती की तकनीक में कोई गुणात्मक सुधार हो जाय या खेती के संगठन में सकारात्मक परिवर्तन हो जायें तब यह सिलसिला टूट जायेगा। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक पूरा देश अभिशप्त है कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए वह बढ़ते अनुपात में निवेश करे, यानी कि आगे बढ़ने के लिये पहले से ज्यादा लगाये और पहले से कम वृद्धि पाये।

व्यक्तिगत किसान के स्तर पर इस परिघटना के बिल्कुल दूसरे परिणाम सामने आने लगते है। जिन किसानों के पास पूंजी की किल्लत नहीं है वे तो ऐसे सौदे में हाथ डाल सकते हैं जहां और निवेश करने पर उन्हें पहले की अपेक्षा अनुपाततः कम उपज होगी। वे इस तथाकथित ''घाटे के सौदे'' में भी हाथ डालते रह सकते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि चाहे कम ही सही अन्ततः उन्हें लाभ ही होना है। मगर जिन किसानों के पास पूंजी की किल्लत है, जिन्हें खेती के लिए पैसा ब्याज पर लेना पड़ता है, जिनके पास मौसम या बाजार तंत्र के उतार–चढ़ाव झेलने की क्षमता नहीं है; ऐसे किसान इस तथाकथित "घाटे के सौदे" में एक हद के बाद हाथ नहीं डाल सकते हैं। वे अपनी खेती के स्तर को धनी किसानों के समानान्तर ऊपर नहीं उठा सकते हैं। इस प्रक्रिया का परिणाम यह निकलता है कि दीर्घकाल में उत्पादकों के बीच की प्रतियोगिता में ये धनी किसान टुटपूंजिया किसानों को पीट देते हैं। दीर्घकाल में टुटपूंजिया किसान खेती से बाहर धकेल दिये जाते हैं और खेती में संकेन्द्रण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है।

पुरानी प्राकृतिक अर्थव्यवस्था में गरीब किसान सदियों तक पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही अवस्था में पड़ा रह सकता है, यदि प्रकृति मेहरबान रहे और शासक वर्ग उसके खिलाफ कोई प्रत्यक्ष कार्यवाही न करे। वह अपनी उपभोग के जरूरत की चीजें और अगले साल की खेती के लिए जरूरत की चीजें (मसलन बीज, मवेशी इत्यादि) अपनी ही गतिविधियों से प्राप्त कर लेता है। अपनी जरूरत की पूर्ति के लिये उसे दूसरों से जिस हद का, अति सीमित विनिमय करना होता है उसका चक्र गांव के भीतर ही पूरा हो जाता है। मगर

बाजार तंत्र से जुड़ी खेती में टुटपुंजिया किसानों के लिए स्थिति ऐसी नहीं है। उत्पादन के एक ही स्तर को बनाये रखते हुए दरिद्रता के आलम में सदियों तक पड़े रहना भी अब सम्भव नहीं रह जाता है। खेती की तकनीक का नया स्वरूप और बाजार तंत्र की गलाकाटू प्रतियोगिता कृषक से मांग करती है कि वह बाजार से भांति–भांति की कृषि सामग्री प्राप्त करके दूसरों का मुकाबला करे। और हर कृषि सामग्री ऐसी भी नहीं होती है कि वह छोटी मात्रा में प्राप्त की जा सके। विशेषकर कृषि मशीनरी खरीदने में और एक कट्टा खाद या कीटनाशक का एक डिब्बा खरीदने में अन्तर होता है। आधुनिक खेती के वे सारें निवेश जिनमें इकट्ठे ज्यादा धन खर्च करना होता है टुटपुंजिया किसानों के बस का नहीं होता। यदि वे इस सामग्री को उधार (किस्तों पर) खरीदते हैं तो उन्हें ब्याज अदा करते हुए ऐसी चीजों को मंहगा खरीदना पड़ता है।

ऋण उपलब्धता की स्थितियां भी धनी किसानों और टुटपुंजिया किसानों के लिए अलग–अलग होती हैं। अपने वर्गीय सम्पर्कों के जरिये संस्थागत ऋणों (बैंकों, सहकारी समितियों इत्यादि) तक धनी किसानों की पहुंच ज्यादा आसान होती है। टुटपुंजिया किसानों की पहुंच इस सस्ते ऋण तक मुश्किल से होती है और उनके टुटपुंजियापन में बृद्धि के साथ–साथ यह और मुश्किल होती जाती है। ऐसी हालत में अपनी ऋण आवश्यकताओं के लिए उन्हें ज्यादा ब्याज वाले गैर– संस्थागत स्रोतों पर निर्भर होना पड़ता है। अर्थात अपनी सापेक्ष दरिद्रता बढ़ाने की कीमत पर ही उन्हें ऋण मिलते हैं। राजसत्ता द्वारा घोषित ऋण नीतियां कितनी ही नेक क्यों न हों, पूंजीवाद में कम या ज्यादा मात्रा में इस दिक्कत/असमानता का सामना टुटपुंजिया किसानों को करना ही पड़ता है।

फसल कटने के तुरन्त बाद टुटपुंजिया किसान अपनी पैदावार अपने पास रोक नहीं सकता है। वह बाजार में भाव चढ़ने का इंतजार नहीं कर सकता है। उसकी देनदारियां उसे मजबूर करती है कि वह अपना उत्पादन बेच कर तुरन्त देनदारियां पूरी करे। अक्सर तो वह उन्हीं लोगों को अपने उत्पाद बेच रहा होता है जिनकी देनदारियां उसे पूरी करनी होती हैं। धनी किसान की अर्थव्यवस्था में इसकी क्षमता होती है कि वह भाव चढ़ने का इंतजार करे। सस्ता बेचने के अलावा टुटपुंजिया किसान के पास कोई चारा नहीं होता है। ऐसे ही मौसम की मार या अन्य प्राकृतिक विपदाओं को झेलने की क्षमता टुटपुंजिया किसान में कम होती है।

अतः कुल स्थिति यह है कि पूंजीवादी खेती के भीतर दीर्घकालिक प्रवृत्तियां लगातार काम करती रहती हैं जो कि टुटपुंजिया किसानों के लिए संकट पैदा करती रहती हैं और उनके अस्तित्व को दांव पर लगाती जाती है। सरकार यदि अपनी नीतियों में परिवर्तन न भी करे और नयी गरीब विरोधी नीतियां न भी लाये, तब भी पूंजीवाद में दीर्घकाल में टुटपुंजिया किसान को तबाह होना ही है। यह उसकी नियति है। उसकी जमींन उसके कारोबार की जो थोड़ी बहुत अन्य परिसम्पत्तियां हैं वे उसके हाथ से क्रमशः छिनती ही हैं। पूंजीवाद में खेती का केन्द्रीकरण (centralization) होता ही है। दूसरी ओर पूंजीवाद धनी किसान को ऐसी स्थितियां मुहैया करवाता है कि वह अपनी पूंजी का संचय करे। उसके छोर पर संकेन्द्रण (concentration) होता है। संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण की सहायक प्रक्रियाएं पूंजीवाद में अन्तर्निहित होती है और ये टुटपुंजिया किसानों के संकट को क्रमशः बढ़ाती हैं।

उक्त वर्णित प्रक्रिया व्यक्तिगत किसानों, उनके संघों, या सरकार की इच्छाओं/अनिच्छाओं से स्वतंत्र घटती हैं। सरकारी नीतियां इसके वेग को ज्यादा से ज्यादा बढ़ा–घटा सकती हैं। यह प्रक्रिया किसी भी प्रकार के पूंजीवाद में अंतर्निहित है (उस पूंजीवाद में भी जिसमें जमीन पर व्यक्तिगत मालिकाना समाप्त कर दिया गया हो)। यह पूंजीवादी ढांचे की लाक्षणिक विशेषता है।

III

1990 के दशक की शुरूआत होने के पहले ही, '80 के दशक में ही, भारतीय कृषि में एक नयी परिघटना सामने आयी। '80 के दशक के सर्वेक्षणों में यह देखा गया है कि भारत में खुदकाश्त खेती का अब तक बढ़ता रुझान थमने लगा है और पुनः किराये पर भूमि देने की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी हैं। 1981–82 में खेती में किरायेदारी प्रथा अपने न्यूनतम स्तर (कुल क्षेत्रफल का 7.2%) पर पहुंची और फिर बढ़ने लगी। इससे भी ज्यादा दिलचस्प बात यह थी कि विपरीत दिशा में किरायेदारी होने लगी थी अर्थात बड़े किसान अब छोटे किसानों की जमीनें किराये पर लेने लगे थे।

इन तथ्यों की अहम्मीयत क्या है? इसका कृषि संकट पर हमारे विचार–विमर्श से क्या लेना–देना है

उक्त नयी परिघटना की अहम्मीयत यह है कि यह दर्शाती है कि भारतीय कृषि में केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया किस रास्ते से आगे बढ़ रही है। लाखों टुटपुंजिया किसान इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि खेती अब उनके बस की बात नहीं है और जमीन किराये पर उठाना ही ज्यादा ठीक है। यह निष्कर्ष भी उस समाज में जहां उद्योग व शहरों में रोजगार पाने की संभावनाएं अति क्षीण हैं! यदि भूमि मालिकाने के आंकड़ों में भी स्पष्टतः यह केन्द्रीयकरण नहीं दिखाई पड़ता है तो उसकी एक बड़ी वजह यह है कि पिछले 3–4 दशकों में बहुत तेजी के साथ भारत में संयुक्त परिवार टूटे हैं ऐसे में जमीन के बॅटवारों ने आंकड़ों में भूमि मालिकाने में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को ढक दिया है। दूसरी बात यह कि हदबन्दी कानूनों की मौजूदगी के चलते भी भूमि केन्द्रीकरण की प्रक्रिया सरकारी रिकाडों में सीधे–सीधे नहीं दिखाई पड़ती है। मूल बात यह है कि '90 का दशक शुरू होने के पहले ही टुटपुंजिया किसानों की तबाही के रूप में, भारतीय कृषि में सक्रिय दीर्घकालिक प्रवृत्तियों के नतीजे हमारे सामने पर्याप्त मात्रा में आ रहे थे। कृषि संकट तब भी मौजूद था। '90 के दशक में यह और विकराल हुआ है। इसे विकराल बनाने में जहां '90 के दशक में सरकारी नीतियों में परिवर्तन की अहम भूमिका है वहीं, यह नहीं भूला जाना चाहिये कि, उससे पहले से क्रियाशील कारक लगातार काम करते रहे हैं और उनके वेग के कम होने की कोई वजह नहीं रही है।

'90 के दशक में सरकार ने अपनी नीतियों में जो परिवर्तन किये उन्होंने कोढ़ में खाज का काम किया। हर जगह से सामान्यतः यही तथ्य सामने आ रहे हैं कि किसान तब आत्महत्याएं कर रहे हैं जब वे कर्जों के बोझ के नीचे दब जाते हैं और इन्हें लौटा पाने की अपनी क्षमताओं में विश्वास खो देते हैं। आत्महत्या करने वाले किसानों के ऊपर सामान्यतः बड़ी मात्रा में गैर– संस्थागत कर्ज – निजी सूद खोरों के कर्जे या फिर आढ़तियों व डीलरों के कर्जे हैं। ऐसा होने के स्पष्ट कारण हैं। 1980 के दशक के अन्त

में स्थिति यह थी कि देश में बैंकों द्वारा दिये गये समग्र ऋण का 18% कृषि के हिस्से में आता था। ´90 के दशक का अन्त होते–होते समग्र बैंक ऋण में कृषि का हिस्सा घटकर 10% हो गया है। स्थिति लगभग उसी स्तर पर पहुंच चुकी है जो कि 1969–70 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समय थी। यदि केवल अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों की बात की जाय तो इनमें तो कृषि ऋण खातों की संख्या में भी निरपेक्ष गिरावट आयी है। मार्च, 1992 में इन बैंकों में कृषि ऋण खातों की संख्या 2.77 करोड़ थी जो कि मार्च 2003 आते–आते 2.08 करोड़ हो गयी। कृषि के प्रति बैंकिंग नीति में ऐसे परिवर्तन के पश्चात् किसानों के पास सूदखोंरों व डीलरों के आगे हाथ फैलाने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया है। मगर बात इतनी ही नहीं है। इस दौरान किसानों की ऋण आवश्यकताएं भी बढ़ी हैं। उल्लिखित दीर्घकालिक कारकों के अलावा किसानों की ऋण आवश्कताओं को बढ़ाने वाले तात्कालिक कारक भी हैं।

पहला, यह कि '90 के उत्तरार्ध में बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशकों के दामों में तीव्र वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण सरकार द्वारा सब्सिडी में कटौती और सरकारी एजेन्सियों द्वारा इनकी आपूर्ति से पीछे हटना है। इसी से जुड़ी बात यह है कि सरकारी एजेंसियों से कृषि निवेशों की आपूर्ति कम या बन्द होने की वजह से किसानों को नकली कीटनाशक, कमजोर खाद, घटिया बीजों की आपूर्ति की जाने लगी। इस कारण से भी किसानों को घाटे हुए। हम पहले ही अर्ज कर चुके हैं कि पूंजी की किल्लत में खेती करने वाले किसानें की स्थिति सम्पन्न किसानों से नितान्त भिन्न है।

दूसरा, यह कि विश्व व्यापार संगठन समझौते के तहत विदेशी आयातों के लिए देश के कपाट खोल दिये जाने से और अन्य तात्कालिक घरेलू कारणों से भी मंडियों में कई कृषि उत्पादों के दाम गिरे हैं। '90 के दशक के अंत में तम्बाकू, कपास, मिर्च और मूंगफली की कीमतें अचानक गिरीं और किसानों की आमदनी अपेक्षा से बहुत नीची रही। वैसे खाद्यान्न के मामले में भी समर्थन मूल्य घोषित करने के बावजूद सरकार खाद्यान्न खरीदने में आनाकानी करने लगी है। इसका परिणाम यह रहा है कि किसान आढ़तियों के समक्ष हाथ जोड़ने को मजबूर हुए हैं।

तीसरा, यह कि 'नयी आर्थिक नीतियों' के दौर में सरकार सिंचाई साधनों के विकास के प्रति उदासीन हुई है। सिंचाई का जो तंत्र अस्तित्व में आ चुका है, उसके रखरखाव में भी सरकारी ढिलाई बढ़ी है। दूसरी तरफ बिजली आपूर्ति में अनिश्चितता का तत्व बढ़ा है। बिजली कम घंटों के लिये मिलती रही है और वोल्टेज में उतार–चढ़ाव भी होता रहा है जिस कारण मोटरें जलीं हैं। अनेक प्रांतों में बिजली के दाम बढ़ने के साथ–साथ बिलों की वसूली के काम का निजीकरण किया गया है। इस सब के साथ–साथ डीजल के दाम तेजी से चढ़े हैं। ऐसी हालत में या तो सिंचाई के स्तर में गिरावट आयी है या फिर खेतों की सिंचाई अत्यधिक महंगी हो गयी है।

चौथा, यह कि खेती के विकास के लिए जरूरी अनुसंधान कार्यों में सरकार की रुचि घटी है। इसके समानान्तर प्रसारण सेवाएं (extension services) भी कमजोर पड़ी हैं। ऐसी हालत में किसानों को खेती सम्बन्धी आवश्यक जानकारी के लिये मीडिया की सामान्य बातों पर निर्भर रहना पड़ता है जबकि उन्हें दरअसल विशिष्ट जानकारी की आवश्यकता होती है। जानकारियां प्राप्त करने का दूसरा स्रोत – कृषि

सामग्री डीलर – तो और भी दिक्कततलब हैं क्योंकि वह नीम हकीम होता है और किसान से मुनाफा कमाने में उसके निहित स्वार्थ होते हैं।

पांचवां, यह कि खेती क्रमशः एक ऐसा स्वरूप ग्रहण करती गयी है जिससे बाजार में मांग के मद्देनजर, किसान ऐसी फसलें बोने लगे हैं जिन्हें वे पहले नहीं बोते थे और अक्सर वे एक ही फसल बोने लगे हैं। ऐसी स्थिति में यदि सूखा, बाढ़ या मौसम में अन्य परिवर्तन हो जायं तो इन प्राकृतिक आपदाओं की मार झेल पाने में वे कहीं ज्यादा कमजोर स्थिति में होते हैं। परम्परागत बीजों की तुलना में HYV बीज कहीं ज्यादा नाजुक होते हैं, ये ज्यादा देख–रेख (खर्चों) की मांग करते हैं। दूसरी ओर एक ही फसल पर निर्भरता किसान के 'रिस्क फैक्टर' को अत्यधिक बढ़ा देती हैं।

ऐसे अनेक तात्कालिक नकारात्मक कारक '90 के दशक में क्रियाशील हुए, जिन्होंने '90 के दशक के उत्तरार्ध में तीखे कृषि संकट को उभारा। हम इसे कोढ़ में खाज कह चुके हैं। खाज, खाज होती है, वह कोढ़ का पर्याय नहीं होती, उसके बराबर की बीमारी नहीं होती है। '90 के दशक के विशिष्ट कारक किन्हीं नीतिगत निर्णयों के परिणाम हैं, इन्हें पूंजीवाद की संरचनागत प्रवृत्तियों के समकक्ष मानना गलत है। समकक्ष मानने की गलती तब भी छोटी गलती है, मगर हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन के अधिकांश विश्लेषक तो इन्हें नजरअंदाज करके ही निष्कर्ष निकालते हैं। यदि कोढ़ न हो तो खाज का इलाज आसान है। हमारे आन्दोलन के अधिकांश साथियों की धारणा भी यही बनती है कि यदि '90 के दशक की 'नयी आर्थिक नीतियों' को वापस ले लिया जाय तब वर्तमान कृषि संकट हल हो जायेगा। हालांकि वे इस निष्कर्ष को साफ–साफ रखते नहीं हैं मगर उनके संकीर्ण विश्लेषण की तार्किक परिणति यही बनती है। इसीलिए ये विश्लेषण न केवल सतही हैं बल्कि ये वस्तुगत तौर पर सुधारवादी भी हो जाते हैं हालांकि विश्लेषकों की मंशा ऐसी नहीं होती।

IV

आलेख के इस हिस्से में हम कृषि संकट के प्रति अपना रुख तय करेंगे और इसके प्रति रणकौशल के महत्वपूर्ण प्रश्न से जूझेंगे। यहां हम वैज्ञानिक समाजवाद के शिक्षकों के प्राधिकार का सहारा लेंगे।

कृषि संकट की समीक्षा करते हुए, विशेष तौर पर '90 के दशक में कृषि के प्रति सरकार के उदासीन रुख को देखते हुए, हमारे अनेक कामरेड कृषि के पिछड़ने व पिटने का विलाप करते हैं। उन्हें ऐसा करने का हक नहीं है। पूंजीवाद की आम गति में कृषि सामान्यतः ही उद्योग व अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की तुलना में पिछड़ती है। पूंजीवाद के रहते इससे बचा नहीं जा सकता। '90 के दशक की 'नयी आर्थिक नीतियों' के पहले भी ऐसा हो रहा था और यदि किन्हीं अकल्पनीय वजहों से आज सरकार इन नीतियों को वापस लेकर पुराने नेहरूवाद पर लौट आये तब भी कृषि पिछड़ेगी ही। लेनिन कहते हैं,

"ज्यों–ज्यों पूंजीवाद विकसित होता जाता है, कृषि सदैव तथा सर्वत्र वाणिज्य तथा उद्योग से **पिछड़ती** जाती है, वह सदैव उनके मातहत रहती है और उस द्वारा शोषित होती है, वह सदैव उस द्वारा केवल आगे चलकर पूंजीवादी **उत्पादन** के पथ पर **खींची जाती है।**" (लेनिन,'आर्थिक स्वच्छन्दतावाद का अभिलाक्षणिकता', सं. र., खंड.1ए पृष्ठ.372ए पाद टिप्पणी, प्र. प्र. मास्को, 1980 जोर मूल में)

लेनिन के मत में पूंजीवाद के हर दौर में कृषि के प्रति अच्छी–बुरी नीतियों के सभी प्रकार के दौरों में कृषि "सदैव व सर्वत्र" वाणिज्य व उद्योग से पिछड़ती है। इतना ही नहीं वह इनके मातहत रहती है और इनके द्वारा शोषित भी होती है। इसलिए हमारे कामरेडों को पूंजीवाद की इस बुराई को लेकर विलाप करने के बजाय पूंजीवाद की मौजूदगी को स्वीकारना चाहिये और समग्र पूंजीवाद (और संकटों को उत्पन्न करने की उसकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति) को ही अपना निशाना बनाना चाहिये। यदि वे पूंजीवाद की मौजूदगी से इंकार करते हुए ऐसी बुराईयों पर रोक लगाने की मांग करते रहेंगे तो उन्हें समझना चाहिये कि वे काल्पनिक सुधारों की मांग करने के अलावा और कुछ नहीं कर रहे हैं।

इसी सिलसिले में दूसरी बात यह कि कृषि संकट (या इस तरह के कोई भी संकट जो छोटे उत्पादकों को तबाह करते हैं) की इतिहास में क्या भूमिका है, प्रतिक्रियावादी या प्रगतिशील? इस सवाल पर हमारे साथी सामान्यतः पेटी–बुर्जुआ अवस्थितियां ग्रहण कर लेते हैं। अपने जमाने में सीसमंदी का उदाहरण लेते हुए नरोदवादियों से बहस चलाते हुए लेनिन कहते हैं,

"....हमने जिन तर्कों को उद्धृत किया है, उनका सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता हैः ;1) छोटे उत्पादकों की सुरक्षा तथा उनके बीच घनिष्ठ सम्बन्धों (कारीगर के अपने ग्राहकों के या जोतने वाले के अपनी बराबरी के जोतने वालों के समीप होने के रूप में) को नष्ट करने के लिए मुद्रा–अर्थव्यवस्था की भर्त्सना की जाती है, ; 2) उत्पादक का स्वावलम्बन सुनिश्चित करने तथा पूंजीवाद के अंतर्विरोध मिटाने के लिए छोटे उत्पादन की तारीफ के पुल बांधे जाते हैं।

"इस ओर ध्यान दें कि वे दोनों विचार नरोदवाद के मूलभूत अंग है। उनके अर्थ की जांच करने का प्रयास करना चाहिए।

"स्वच्छंदतावादियों तथा नरोदवादियों द्वारा मुद्रा–अर्थव्यवस्था की आलोचना उस अर्थव्यवस्था के फलों – व्यक्तिवाद और वैरभाव (प्रतियोगिता) – और उसके साथ ही उत्पादकों की असुरक्षा एवं सामाजिक अर्थव्यवस्था की अस्थिरता की ओर संकेत तक सीमित है।

"सबसे पहले "व्यक्तिवाद" को ले लें। आम तौर पर किसी सम्बद्ध समुदाय में किसानों अथवा किसी सम्बद्ध शिल्प के कारीगरों (या दस्तकारों) के संघ तथा पूंजीवाद के बीच, जो उन्हें सूत्रबद्ध रखने वाले बंधनों को नष्ट कर देता है तथा उनके स्थान पर प्रतियोगिता को लाता है, तुलना की जाती है। यह तर्क स्वच्छन्दतावाद द्वारा सामान्य रूप से की जाने वाली गलती की पुनरावृत्ति है, अर्थात यह निष्कर्ष कि चूंकि पूंजीवाद अन्तर्विरोधों से ग्रस्त

है, अतः उसमें **सामाजिक संगठन का उच्चतर रूप** नहीं हो सकता। क्या पूंजीवाद, जो मध्ययुगीन ग्राम समुदाय, शिल्प, आर्तेल तथा ऐसे ही अन्य सम्बन्धों को नष्ट करता है, उनके स्थान पर अन्य को प्रतिष्ठापित नहीं करता? क्या माल अर्थव्यवस्था उत्पादकों के बीच **सम्बन्ध सूत्र**, मंडी द्वारा स्थापित सम्बन्ध–सूत्र पहले ही नहीं बन चुकी है? **इस सम्बन्ध–सूत्र** का वैरभावपूर्ण स्वरूप जो उतार–चढ़ावों तथा अन्तर्विरोधों से भरपूर है, किसी को **उसके अस्तित्व** से इंकार करने का अधिकार नहीं देता। और हमें पता है कि अन्तर्विरोधों का विकास ही निरंतर बढ़ते जोर के साथ इस सम्बन्ध–सूत्र की शक्ति को प्रकट करता है, समाज के सारे पृथक–पृथक तत्वों तथा वर्गों को ऐक्यवद्ध होने, एक ग्राम समुदाय या एक जिले की संकुचित सीमाओं के अन्दर नहीं, वरन **एक पूरे राष्ट्र** के अन्दर और यहां तक कि भिन्न–भिन्न देशों तक के अन्दर सम्बद्ध वर्ग के तमाम सदस्यों को ऐक्यबद्ध होने के लिए **मजबूर करता है**। केवल कोई स्वच्छंदतावादी ही अपने प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण के कारण इन सम्बन्ध–सूत्रों के अस्तित्व तथा उनके गहरे महत्व से इंकार कर सकता है, जो क्षेत्रीय, व्यावसायिक, धार्मिक या ऐसे ही अन्य हितों पर नहीं, वरन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में अदा की जाने वाली एक समान भूमिका पर आधारित होता है।...

"जहां तक असुरक्षा तथा अस्थिरता, आदि का सम्बन्ध है, यह वही पुराना राग है, जिसकी बात हम विदेशी मंडी की चर्चा करते समय कर चुके हैं। इस तरह के प्रहार स्वच्छंदतावादी की कलई खोल देते हैं, जो डरते–डरते ठीक उस चीज की भर्त्सना करता है, जिसे वैज्ञानिक सिद्धान्त पूंजीवाद में सबसे ज्यादा मूल्यवान मानता है : विकास की उसमें अन्तर्निहित प्रवृत्ति, उसकी आगे बढ़ने की अरोध्य प्रवृत्ति, एक जगह खड़े होने या आर्थिक प्रक्रियाओं को उनके पहले के अपरिवर्तनीय पैमानों में पुनरूत्पादित करने की अक्षमता। केवल कल्पनावादी ही, जो मध्ययुगीन साहचर्यों (जैसे ग्राम समुदाय) को पूरे समाज में फैलाने की बे सिर–पैर की योजनाएं गढ़ता है, इस तथ्य की उपेक्षा कर सकता है कि ठीक पूंजीवाद की "अस्थिरता" जबर्दस्त प्रगतिशील कारक है, जो सामाजिक विकास की रफ्तार तेज करता है, आबादी के अधिकाधिक समुदायों को सामाजिक जीवन के भंवर की ओर खींचता है, उन्हें उसके ढ़ांचे पर विचार करने के लिए तथा "अपने सुख को स्वयं अपने हाथों से गढ़ने" के लिए विवश करता है।" (वही, जोर मूल में, पृष्ठ–375–378)

यह लम्बा उद्धरण हमने दो कारणों से दिया है। पहला, यह कि हम यह साफ करना चाहते हैं कि बाजार तंत्र का विकास और किसान का उसकी गिरफ्त में फंस जाना ऐतिहासिक संदर्भ में कतई बुरा नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो जिस पार्थक्य, जिस कूपमंडूकता में वह सदियों से पड़ा रहा है वह इस नयी स्थिति से लाख गुना बुरी है। इस अर्थ में किसान का विदेशी मंडियों से जुड़ना भी कतई गलत नहीं है। किसान के जीवन की वर्तमान स्थिति को बनाये रखने की गरज से वैश्वीकरण का जो भी विरोध हो रहा है, वह गलत है। वैश्वीकरण के विरोध की मूल जमीन यही होनी चाहिये कि वह साम्राज्यवाद (और देशी

शासकों) के आक्रमण का अंग है। दूसरे शब्दों में यदि विश्व व्यापार संगठन वाकई उत्पादन शक्तियों के विकास को प्रोत्साहित कर रहा होता तो हमारे पास वैश्वीकरण के विरोध की वजह नहीं होती। मगर चूंकि वह इसी काम को नहीं कर रहा है बल्कि इसमें एक हद तक बाधाएं भी पैदा करता है इसलिए उसका विरोध उचित है।

दूसरा, यह कि पूंजीवाद सामाजिक जीवन में जो **अस्थिरता** पैदा करता है, जो उठा–पटक करता है वह कतई बुरी बात नहीं है। वैज्ञानिक समाजवाद के शिक्षकों की नजर में यह इतिहास में "एक जबरदस्त प्रगतिशील कारक है" पूरी बात को और साफ करने के लिए लेनिन प्रूदों के खिलाफ मार्क्स की बहस का हवाला देते हैं, वे पहले 'दर्शन की दरिद्रता' से स्वयं मार्क्स को उद्धृत करते हैं और फिर अपनी बात कहते हैं,

> ".. परन्तु इस अंश के अन्तर्य पर जरा नजर डालें। उद्धृत अंश के लेखक (मार्क्स – संपादक) की मुख्य प्रस्थापना, उनका मुख्य विचार क्या है, जो उन्हें उनके पूर्ववर्तियों के अनम्य विरोध में खड़ा कर देता है? निस्संदेह ठीक यह कि वह पूंजीवाद की अस्थिरता (जिसे ये **तीनों लेखक** मानते हैं) के प्रश्न को **ऐतिहासिक** धरातल पर खड़ा कर देते हैं तथा इस अस्थिरता को **प्रगतिशील कारक** मानते हैं। दूसरे शब्दों में वह, पहले, यह मानते हैं कि विद्यमान पूंजीवादी विकास, जो अनुपातहीनता तथा संकटों आदि के बीच से गुजरता है, **आवश्यक विकास है**, और कहते हैं कि उत्पादन के साधनों (मशीनों) का ठीक स्वरूप ही उत्पादन का असीमित विस्तार करने की प्रवृत्ति को तथा आपूर्ति की मांग से सतत रूप से आगे होने की स्थिति को जन्म देता है। दूसरे वह, इस विकास में प्रगति के तत्वों को स्वीकार करते हैं, जो ये हैं : उत्पादक शक्तियों का विकास, पूरे समाज की सीमाओं के अन्तर्गत श्रम का समाजीकरण, आबादी का बढ़ता स्थानांतरण, उसकी चेतना में वृद्धि आदि। ये दो मुद्दे उनके तथा सीसमंदी और प्रूदों के बीच अन्तर को निःशेष कर देते हैं। सीसमंदी और प्रूदों पूंजीवाद की "अस्थिरता" तथा उस द्वारा उत्पन्न अन्तर्विरोधों को लक्षित करने और इन अन्तर्विरोधों को मिटाने की हार्दिक कामना में उनसे सहमत हैं। यह समझने में असमर्थता कि यह "अस्थिरता" सारे पूंजीवाद तथा सामान्यतया माल अर्थव्यवस्था का **आवश्यक** गुण है, उन्हें **कल्पनावाद** तक ले गयी। प्रगति के तत्वों को, जो इस अस्थिरता में अन्तर्निहित है, समझने की असमर्थता में उनके सिद्धान्तों को प्रतिक्रियावादी बना देती है।"
>
> (वही, पृष्ठ.380–381, जोर मूल में)

संकटों के प्रति वैज्ञानिक समाजवाद के दृष्टिकोण को साफ करने के लिये मार्क्स का हवाला देकर लेनिन क्या स्थापित करते हैं ? लेनिन स्थापित करते हैं कि किसी संकटरहित पूंजीवाद की कल्पना करना शेखचिल्लीपन है। दूसरे शब्दों में यदि पूंजीवाद है तो उसमें अस्थिरता अनुपातहीनता या संकट रहेंगे ही। आगे यह कि ऐतिहासिक धरातल पर यह "अस्थिरता" एक "प्रगतिशील कारक" है। पूरी बात का सार यह

कि यह "अस्थिरता" पूंजीवाद का "आवश्यक गुण" है और उसमें अन्तरनिहित "प्रगति के तत्वों" को समझने की जरूरत है।

इस बात को खींच कर इस अर्थ में नहीं समझा जाना चाहिये कि कार्ल मार्क्स और उनकी परम्परा के चिन्तक संकटों से मुक्ति की किसी स्थिति की परिकल्पना नहीं करते हैं। वैज्ञानिक समाजवाद के झंडावरदार ऐसी स्थिति की परिकल्पना करते हैं जिसमें संकट नहीं होंगे । दरअसल मेहनतकश आवाम के लिए उसी स्थिति को हासिल कर लेने के प्रयास में ही कम्युनिस्ट जुटे रहते हैं। मगर वे साफ होते हैं कि ऐसी वांछनीय स्थिति पूंजीवाद के दायरे में हासिल नहीं की जा सकती है चाहे कितनी ही किसानपरस्त नीतियां क्यों न बना दी जायें, इसलिए वे संकटों से मुक्ति के लिए समाजवाद की स्थापना का नारा देते हैं। इससे उल्टे छोटे उत्पादकों के मसीहा संकटों की पूरी परिघटना को किन्हीं बुरी नीतियों का परिणाम मात्र मान कर, नीतियों के खिलाफ ही जनता के गोल बन्द करते रहते हैं। यह संकटों के प्रति सर्वहारा दृष्टिकोण और निम्न–पूंजीवादी दृष्टिकोण में मूलभूत अन्तर है – दो भिन्न–भिन्न विश्लेषण, दो भिन्न–भिन्न समाधान!

19वीं सदी के नवें दशक में यूरोप में एक विकराल कृषि संकट पैदा हुआ और लाखों किसान बरबाद हुए। 19 वीं सदी के अन्तिम वर्षों में कृषि प्रश्न पर कार्ल काउत्स्की की पुस्तक 'DIE AGRAR FRAGE ' छपी । लेनिन इस पुस्तक के प्रशंसक थे हालांकि इसी प्रश्न पर अपनी पुस्तक ' The Developement of Capitalism in Russia' को लिखने के पहले उन्हें इसे पढ़ने को मौका नहीं मिला था। काउत्सकी की किताब के समर्थन में और बुल्गाकोव की आलोचनाओं के विरोध में लेनिन ने एक लेख 'कृषि में पूंजीवाद' (Capitalism in Agriculture) लिखा। इस समीक्षा के एक हिस्से का अनुवाद, जिसमें लेनिन ने कृषि संकट के संदर्भ में विशिष्ट (1880–90 के विशिष्ट संकट) व आम दोनों तरह की बातें की हैं, हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं,

> "मार्क्स ने कृषि विकास की जो सामान्य अवधारणा प्रस्तुत की और जिसे काउत्स्की ने विस्तारित किया, से ही अपरिहार्यतः कृषि संकट की समझदारी भी पैदा होती है। काउत्स्की कृषि संकट के सार को इस तथ्य में देखते हैं कि बहुत सस्ता खाद्यान्न पैदा करने वाले देशों से प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप यूरोपीय कृषि से अब उस बोझ को उपभोक्ताओं के समूह पर लादते रहने का सुअवसर छिनता जा रहा है जिसे भूमि के व्यक्तिगत मालिकाने एवं पूंजीवादी माल उत्पादन ने कृषि पर लादा था। अब से यूरोप में कृषि **को स्वयं इस बोझ को उठाना होगा, और यही वर्तमान कृषि संकट है।** भू–लगान मुख्य बोझ है। यूरोप में, पहले के ऐतिहासिक विकास के चलते, भू–लगान (विभेदी और निरपेक्ष, दोनों) अत्यधिक ऊंचे स्तर पर पहुंच चुके हैं और वह भूमि के दाम में अभिव्यक्त होते हैं। दूसरी ओर उपनिवेशों (अमरीका, अर्जेंटीना व अन्य) में, जब तक वे उपनिवेश बने रहते हैं, हम देखते हैं कि नये बसने वाले बंजर भूमि को या तो बिल्कुल मुफ्त या बहुत मामूली दाम देकर प्राप्त कर लेते हैं। इसके अलावा कुंवारी भूमि का उपजाऊपन लागत मूल्य को न्यूनतम पर बनाये हुए है। अब तक यूरोप में पूंजीवादी खेती, अत्यधिक ऊंची भू–लगान का बोझ

(खाद्यान्न की ऊंची कीमतों को रूप में) बड़ी सहजता से उपभोक्ताओं के कंधों पर लादती रही है परन्तु अब इन भू–लगानों का बोझ स्वयं किसानों व भूस्वामियों को उठाना होगा और यही उन्हें बरबाद कर रहा है। अतः कृषि संकट उस सम्पन्नता का खात्मा करने लगा है और करता रहेगा, जिसका मजा अब तक पूंजीवादी भू–सम्पत्ति एवं पूंजीवादी खेती पूर्वकाल में चखती रही है। अब तक पूंजीवादी भू–स्वामी ने समाज विकास के बढ़ते पैमाने पर खिराज वसूला है, और यह खिराज भूमि के दाम में अभिव्यक्त हुआ है। उसे अब इस खिराज की बलि देनी होगी। पूंजीवादी कृषि अब अस्थिरता की उसी दशा में धकेल दी गयी है जो कि पूंजीवादी उद्योग की चारित्रिक विशेषता होती है, और उसे नयी बाजार स्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढालना पड़ रहा है। हर संकट की तरह, कृषि संकट भी बहुत बड़ी तादाद में किसानों को बरबाद कर रहा है और स्थापित सम्पत्ति सम्बंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर रहा है। **कुछ स्थानों पर** तो तकनीकी विकास उल्टी दिशा में चल पड़ा है और अर्थव्यवस्था व सम्बन्धों के मध्ययुगीन रूपों की पुनः स्थापना हो रही है। परन्तु यदि समग्रता में देखा–समझा जाय तो यह सामाजिक विकास को **त्वरित** कर रहा है, यह पितृसत्तात्मक ठहराव को उसके आखिरी शरणस्थल से बाहर धकेल रहा है, और यह कृषि में विशिष्टीकरण को (जो कि पूंजीवादी समाज में कृषि प्रगति का प्रधान कारक होता है) अनिवार्य बना दे रहा है, मशीनरी के उपयोग को बढ़ा रहा है, इत्यादि। समग्रता में अनेक देशों के आंकड़ों के आधार पर, अपनी पुस्तक के अध्याय प्ट में काउत्स्की दिखाते हैं कि 1880–90 के दौर में पश्चिमी यूरोप में भी, कृषि में ठहराव के बजाय तकनीकी प्रगति हो रही थी। हम, पश्चिमी यूरोप में भी इसलिए कह रहे हैं क्योंकि अमरीका में तो यह प्रगति और भी स्पष्टता के साथ दिखायी पड़ती है।

"संक्षेप में हमारे पास यह मानने को कोई आधार नहीं है कि कृषि संकट पूंजीवाद और पूंजीवादी प्रगति में बाधक है।" (लेनिन, 'Capitalism in Agriculture, collected works', vol- 4, पृष्ठ.157–159, अनुवाद हमारा, जोर मूल में)

इस उद्धरण में लेनिन की आम बात यह है कि 'हमारे पास यह मानने का कोई आधार नहीं है कि कृषि संकट पूंजीवाद और पूंजीवादी प्रगति में बाधक है।' भारतीय कृषि के वर्तमान संकट के विशिष्ट संदर्भ में भी हमारे पास यह मानने का कोई आधार नहीं है कि यह संकट भारतीय कृषि की पूंजीवादी प्रगति को धीमा करेगा। इस बात की कतई कोई संभावना नहीं है कि वर्तमान संकट के परिणामस्वरूप भारतीय कृषि में उत्पादक शक्तियों के विकास की गति धीमी पड़ने लगे; उल्टे यहां प्रश्न यह उठने लगा है कि क्या वर्तमान संकट इस बात का संकेत है कि अब भारतीय कृषि के पूंजीवादीकरण में गुणात्मक छलांग लगने वाली है? कि क्या अब बहुत तेजी के साथ अर्ध–सर्वहारा किसानों और छोटे किसानों का सफाया होगा और भारतीय कृषि तकनीकी एवं भूमि संकेन्द्रण के उच्चतर मंजिल में दाखिल हो जायेगी? ऐसे प्रश्न अब खड़े होने लगे हैं हालांकि अभी इनका कोई निश्चित उत्तर दे पाना संभव नहीं है।

इस उद्धरण में लेनिन जो विशिष्ट बात करते हैं, वह यह है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध के कृषि संकट ने वे स्थितियां पैदा कीं जिनसे भू–लगान में गिरावट आयी। प्रश्न उठता है कि क्या आज 21वीं सदी में भारत में भी विदेशों से सस्ते कृषि उत्पादों के आयात के कारण बाजार की स्थितियों में जो परिवर्तन आ रहे हैं (और अन्य कारणों – मसलन घरेलू नीतियों – से भी बाजार की स्थितियों में जो परिवर्तन आ रहे हैं) उनके परिणामस्वरूप भारत में भी भू–लगान के स्तर में गिरावट आयेगी? इस प्रश्न का भी निश्चित उत्तर देना कठिन है हालांकि सम्भावनाएं यही हैं कि एक हद तक ऐसा होना चाहिये। अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के अन्तर्गुंफन एवं मुक्त बाजार व्यवस्था की स्थापना से सामान्यतः यही होना चाहिये कि कृषि उत्पादों की सापेक्षिक कीमतें गिरें। परिणामस्वरूप भू–लगान के स्तर में गिरावट आनी चाहिए। परन्तु यह दावा करना कि ऐसा ही होगा अनुचित है। यह इसलिए कि भू–लगान के उच्च स्तर को बनाये रखने वाली विरोधी प्रवृत्तियां तब भी भारतीय कृषि में सक्रिय रहेंगी, मसलन कृषि पर आबादी के अत्यधिक दबाव के चलते अनेक गरीब किसान भुखमरी की स्थितियों में भी जीवन–बसर करके ऊंचे किराये देते रहेंगे और भूस्वामियों को घटिया से घटिया भूमि से कुछ किराया हासिल होता रह सकता है।

19वीं सदी के यूरोपीय संकट से सर्वहारा वर्ग को लाभ हुआ था। खाद्यान्न के दामों में गिरावट से तात्कालिक तौर पर यूरोपीय सर्वहारा की सापेक्षिक स्थिति बेहतर हुई थी। मगर 21वीं सदी के भारत में ऐसा नहीं हो रहा है। वर्तमान कृषि संकट से सर्वहारा को किसी भी प्रकार का लाभ नहीं हो पा रहा है। एक तो यह कि 20वीं सदी में, विशेष तौर पर '60 के दशक के अकाल के बाद भारत में एक सार्वजनिक वितरण प्रणाली अस्तित्व में आयी थी। इस पर वितरित होने वाले सस्ते राशन से सर्वहारा को एक हद तक राहत मिलती थी। अब मुक्त बाजार व्यवस्था के नये माहौल में इस सार्वजनिक प्रणाली को संकीर्ण व पंगु बनाया जा रहा है। ऐसे में सस्ती खाद्य सामग्री तक सर्वहारा की पहुंच घटी है। दूसरी बात यह कि कृषि संकट के समानान्तर ही उद्योग में पुनर्संयोजन (restructuring) करके औद्योगिक पूंजीपति आपनी प्रतिस्पर्धात्मक क्षमताएं बढ़ा रहे हैं और सापेक्ष वेशी मूल्य की मात्रा को बढ़ाने की कोशिशों में जुटे हुए हैं। इसके लिये वे छंटनी, वेतन गिरावट जैसे अनेक हथकंडे अपना रहे हैं। ऐसे में सर्वहारा वर्ग के हिस्से में आने वाले सामाजिक उत्पाद की मात्रा घट रही है। अतः उसकी स्थिति ऐसी नहीं है कि वह वर्तमान कृषि संकट से लाभान्वित हो सके।

उल्टे औद्योगिक पूंजीपतियों की स्थिति जरूर ऐसी है कि वे कृषि संकट का लाभ उठा सकें। सर्वप्रथम यदि वैश्वीकरण एवं घरेलू उदारीकरण के चलते कृषि उत्पादों की कीमतें गिरती है, और उद्योग की तुलना में कृषि के लिये व्यापार की शर्तें (term of trade) प्रतिकूल होती हैं तो औद्योगिक पूंजीपति ज्यादा सम्पन्न होंगे। दूसरी बात यह कि कृषि संकट के चलते, अर्द्ध–सर्वहारा किसानों एवं छोटे किसानों की बढ़ती कंगाली के चलते, सर्वहारा के बीच प्रतियोगिता मे इजाफा हो रहा है। इससे समग्र पूंजीपति वर्ग के लिए मजदूरों की मजदूरी और ज्यादा गिराने एवं काम की शर्तें कड़ी करने के लिए बेहतर स्थिति पैदा हो रही है, जिसका वे भरपूर उपयोग कर रहे हैं।

कृषि संकट से औद्योगिक पूंजीपतियों (और समस्त पूंजीपति वर्ग)के लाभान्वित होने की बात पर कई लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि इस संकट से आबादी का एक हिस्सा कंगाल होता है, उसकी

क्रयशक्ति गिरती है अतः घरेलू बाजार सिकुड़ता है अर्थात औद्योगिक पूंजीपतियों (एवं समग्र पूंजीपति वर्ग) के लिए भी कृषि संकट और उसके तहत छोटे उत्पादकों की बरबादी फायदे की बात न होकर दिक्कतलब बात है; कि उक्त विश्लेषण गलत है। इस सिलसिले में अपनी दलीलें देकर बहस करने के बजाय हम लेनिन को उद्धृत करेंगे,

> "अब तक हमने साधारण माल उत्पादन की बात की है। अब हम पूंजीवादी उत्पादन के दायरे में दाखिल होंगे, यानी कि हम यह मान कर चलते हैं कि साधारण माल उत्पादकों की जगह हमारे सामने एक तरफ उत्पादन के साधनों का मालिक है और दूसरी तरफ उजरती श्रमिक, श्रम–शक्ति का विक्रेता। छोटे उत्पादक के उजरती श्रमिक में रूपान्तरण का मतलब ही यह मानना है कि उसने उत्पादन के साधन – भूमि, औजार, कारखाना इत्यादि – खो दिया है और वह कंगाल हो गया है, तबाह हो गया है। यह विचार प्रतिपादित किया जाता है कि यह बर्बादी "आबादी की क्रय शक्ति को घटाती है", कि यह पूंजीवाद के लिए "घरेलू बाजार को सिकोड़ती" है।... हम यहां रूस में इस प्रक्रिया के वस्तुगत आंकड़ों को नहीं लेंगे– इनकी छानबीन हम आगे के अध्यायों में करेंगे। हाल–फिलहाल के लिए प्रश्न केवल सैद्धान्तिक रूप से प्रस्तुत है, यानी कि यह सामान्यतः माल उत्पादन की उस स्थिति से सम्बन्धित है जब वह पूंजीवादी उत्पादन में रूपान्तरित हो रहा होता है। जिन लेखकों की हमने बात की है वे भी इस प्रश्न को सैद्धान्तिक रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, यानी कि वे छोटे उत्पादकों की बर्बादी के तथ्य से घरेलू बाजार के सिकुड़ने का निष्कर्ष निकालते हैं। यह दृष्टिकोण पूर्णतः गलत है, और हमारे अर्थशास्त्रीय साहित्य में इसका लगातार बने रहने को केवल नरोदवाद के रोमानी बहम के बतौर समझा जा सकता है। यह आमतौर पर भुला दिया जाता है कि उत्पादन के साधनों से उत्पादकों के एक हिस्से की "मुक्ति" का मतलब अनिवार्यतः यही होता है कि वे दूसरे हाथों में हस्तांतरित हो चुके हैं; और यह भी भुला दिया जाता है कि परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों के नये मालिक उन उत्पादों को भी माल के बतौर पैदा करते हैं जिन्हें पहले उत्पादक स्वयं खपा देता था यानी कि घरेलू बाजार का विस्तार होता है; और यह कि उत्पादन में विस्तार करने वाले नये मालिक बाजार में नये औजारों, कच्चे माल, यातायात साधनों इत्यादि की नयी मांग पेश करते हैं और ये उपभोक्ता वस्तुओं की भी मांग पेश करते हैं (नये मालिकों की सम्पन्नता में यह स्वतः ही माना जा सकता है कि उनके निजी उपभोग में भी वृद्धि होगी)।...अतः अमूर्त सिद्धान्त की अवस्थिति से, पूंजीवाद और विकासशील माल अर्थव्यवस्था वाले समाज में छोटे उत्पादकों की बरबादी का मतलब उस निष्कर्ष से बिल्कुल उल्टा है जो कि सर्वश्री एन.–ओन और वी.वी. निकालना चाहते हैं; यहां घरेलू बाजार का सृजन होता है न कि उसका संकुचन।" (लेनिन; 'The Deplopement of capitalism in Russia', Progress Publishers, Moscow,पृष्ठ.41–42, अनुवाद हमारा)

इस मुद्दे पर लेनिन का मत बिल्कुल स्पष्ट है–छोटे उत्पादकों की बर्बादी पूंजीवाद के विकास के रास्ते खोलती है,वह घरेलू बाजार का संकुचन करने के बजाय उसका सृजन व विस्तार करती है। निम्न–पूंजीवादी दृष्टिकोण से लैस साथियों को यह बात कितनी ही अतार्किक एवं बुरी लगे, मगर यह एक ऐतिहासिक सत्य है जिसे स्वीकार करके ही आगे इतिहास निर्माण किया जा सकता है।

और यदि यही सत्य है तब मौजूदा कृषि संकट और उसके तहत छोटे उत्पादकों की बरबादी से देश के पूंजीवादी शासकों को कोई परेशानी भी नहीं होनी चाहिये। बात भी ठीक ऐसी ही है। 1997 से लेकर अब तक भारत की लोकसभा व राज्य सभा में किसान आत्महत्याओं से सम्बन्धित अनेक प्रश्न पूछे गये। विभिन्न मंत्रियों ने इन प्रश्नों के अतिसंक्षिप्त उत्तर दिये, जिनकी प्रकृति आम तौर पर टालने वाली ही रही है। आम तौर पर केन्द्रीय मंत्रियों का बहाना यही होता है कि ये दुर्घटनाऐं एक ऐसे विषय से सम्बन्धित हैं जो कि प्रदेश सरकारों के अधिकारों की सूची में आती हैं। दूसरे किस्म का जवाब आम तौर पर उस मामूली धनराशि का ब्यौरा होता है जो कि सरकार अपने राहत कोष से (या अन्य मदों से) खर्च करती है ताकि वह दावानल पर पानी के छींटे मारती हुई तो कम से कम दिखे। इन सात वर्षों में, तीन आम चुनाव और कई छोटे चुनावों के बावजूद कृषि संकट का समाधान करने के लिए कहीं कोई समेकित योजना या उस तरह के नीतिगत निर्णय नही दिखाई पड़ते हैं जैसी योजनाएं '50 व '60 के दशक में कृषि की प्रगति के लिए बनायी गयी। कृषि संकट के प्रति भारतीय संसद का यह उदासीन रुख उस पहुंच को बेनकाब कर देता है जो कि इस समस्या के प्रति भारत के पूंजीपति वर्ग की आम पहुंच है। भारत के पूंजीपति जो हो रहा है उसे होते रहने देना चाहते हैं!

इस मामले में एक जटिल प्रश्न यह भी है कि इस संकट की स्थिति में भी किसान क्यों शान्त हैं? उनकी ओर से इस स्थिति के खिलाफ कोई सशक्त प्रतिरोध क्यों नहीं हो रहा है? वे लड़ने के बजाय स्वयं मरने का विकल्प क्यों चुन रहे हैं

इसमें कोई दो राय नहीं है कि पिछले 6.7 वर्षों में आत्महत्याओं का यह सिलसिला भारतीय किसानी के इतिहास में एक नयी व भयावह परिघटना है। इसके पहले भीषण अकाल के दिनों में भी इतने बड़े पैमाने पर ऐसी प्रवृत्ति नहीं देखी गयी है। न 1940 के दशक में बंगाल के कुख्यात अकाल के दौरान इतने बड़े पैमाने पर आत्महत्याएं हुई और न ही '60 के दशक के उत्तरार्ध के बुरे दिनों में ।

पूंजीवादी दौर की खेती में और प्राकृतिक अर्थव्यवस्था पर आधारित खेती में उत्पन्न होने वाले संकटों की प्रकृति में एक बड़ा फर्क यह होता है कि पूंजीवादी खेती के संकटों की तीव्रता अत्यधिक होती है। इसमें टुटपुंजिया किसानों के ऊपर बाजार की देनदारियों का अत्यधिक दबाव होता है और यदि प्राकृतिक आपदाओं के कारण या बाजार में उनके उत्पादों की मांग के गिरने के कारण वे अपनी देनदारियां न पूरी कर पायें तो उनकी आर्थिक स्थिति में तीव्र गिरावट आती है। अपनी आर्थिक हैसियत में इस तरह की अचानक गिरावट के वे आदी नहीं होते हैं। अचानक अपनी "इज्जत" खो बैठने की स्थिति के लिए वे मानसिक तौर पर तैयार नहीं होते हैं। ऐसी नयी मनोवैज्ञानिक स्थिति में फंसे किसान वह आत्मघाती निर्णय लेते हैं जो उनके पूर्वज नहीं लेते थे। संकट में फंसे व्यक्तिगत किसानों के लिए तब के बुरे दिनों में और अब के बुरे दिनों में एक बड़ा व महत्वपूर्ण अंतर यह भी है कि आज मजदूरों एवं मेहनतकश आवाम का

राजनैतिक आन्दोलन नितांत सुप्त अवस्था में है। सामाजिक संघर्षों के अभाव में व्यक्तिगत किसान के इर्द–गिर्द का माहौल बहुत बेगानेपन व नाउम्मीदी भरा है। ऐसी स्थितियों में उसकी वेदना कई गुना बढ़ जाती है और उसमें बहुत गहरी निराशा व पस्ती घर कर जाती है। इन हालात में फंसें करोड़ों किसानों में से कई अपना जीवन समाप्त करने के व्यक्तिगत निर्णय पर पहुंचते हैं। ये हालात गुस्से, स्वतःस्फूर्त एकजुटता व संघर्ष को भी जन्म दे सकते हैं; बस बात इतनी है कि अभी ऐसा हुआ नहीं है। अतः आज आत्महत्याएं एवं अन्य आत्मघाती कार्यवाहियां हो रही हैं।

प्रश्न उठता है कि ऐसी हालत में वर्ग सचेत सर्वहारा को क्या करना चाहिये, उसकी क्या कार्यनीति होनी चाहिये? उसे आमतौर पर सभी मेहनतकश किसानों से और विशेष तौर पर छोटे किसानों व अर्द्ध–सर्वहारा किसानों से क्या कहना चाहिये

सर्वप्रथम अर्द्ध–सर्वहारा किसान और छोटे किसान (यहां तक कि मझोले किसान भी) ग्रामीण व शहरी सर्वहारा के मित्र वर्ग हैं। इसलिए वर्ग सचेत सर्वहारा इनकी बिगड़ती हालत के प्रति असंवेदनशील व तटस्थ नहीं रह सकता है। वह इन्हें इनके हाल पर छोड़कर इस अवस्थिति पर नहीं खड़ा हो सकता है कि जो हो रहा है उसे होते रहने देना चाहिये क्योंकि वह ऐतिहिासिक अर्थों में प्रगतिशील है, समाज विकास के लिए अपरिहार्य है। ऐसी तटस्थता की अवस्थिति कतई गलत है। अपने आपको प्रगतिशील या क्रांतिकारी मानने वाले लोग जब परोक्षतः (या कभी–कभी प्रत्यक्षतः भी) तटस्थता की अवस्थिति पर खड़े हो जाते हैं तो वे एक अनैतिहासिक नियतिवादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं और अपने दायित्व से पलायन कर रहे होते हैं।

यह सही है कि किसान,चाहे वे कैसे भी हों छोटे या बड़े निजी सम्पत्ति सम्बन्धों के प्रतिनिधि होते हैं । इस मायने में वे प्रतिक्रियावादी ही होते हैं। इसके साथ–साथ यह भी सही है कि छोटे किसान छोटे पैमाने के उत्पादन के प्रतिनिधि होते हैं और बड़े पैमाने के उत्पादन (मानव इतिहास के सबसे प्रगतिशील तत्वों) से उनका अन्तर्विरोध भी बनता है। मगर इन कमियों/दिक्कतों के बावजूद वे क्रांति के मित्र होते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि बड़े पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन में उनकी जीवन दशाएं लगातार बिगड़ती जाती हैं, उनका अलगाव टूटता है और वे पूरी समाज व्यवस्था के बारे में सोचने को मजबूर होते हैं। पूंजीवाद के अन्तर्गत उनकी तबाही उन्हें किसान समुदाय में हो रहे विभेदीकरण का एहसास कराती है; उनमें वर्गबोध पैदा करती है और सदियों की जड़ता को तोड़ते हुए उन्हें मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष से रूबरू कराती है। वे पाते हैं कि पूंजीवाद तो उन्हें तबाह करने पर आमादा है और यदि वे अपने जीवन के दुःख दर्द से मुक्ति चाहते हैं तो समाजवाद की स्थापना (जिसमें पूंजीवादी शोषण व संकटों का अन्त हो सकता है) ही एक मात्र विकल्प है। इसी कारण से छोटे पैमाने की निजी सम्पत्ति के स्वामी होने के बावजूद और पिछड़े उत्पादन संबंधों के प्रतिनिधि होने के बावजूद वे एक क्रांतिकारी वर्ग बनते हैं। अतः उनके प्रति तटस्थता का रूख अपनाने के बजाय वर्ग सचेत सर्वहारा का यह दायित्व बनता है कि वह उनके लिए कोई कार्यक्रम बनाये, उनके बीच किन्हीं बातों का प्रचार करे, यदि सम्भव हो तो किन्हीं मांगों को लेकर उन्हें उद्वेलित करे। तटस्थता का रुख छोड़कर इन छोटे उत्पादकों के बीच राजनैतिक कार्यवाहियां करना कहीं से भी "समाज विकास की गति को अनुपयोगी रूप से धीमा करना" नहीं है। और न ही वर्तमान व्यवस्था के भीतर

इन छोटे उत्पादकों की **आंशिक मांगों** के लिए लड़ना ही "किसान समुदाय को बचाने को प्रयास" है, बशर्ते इन आंशिक मांगों की लड़ाई बड़े व्यवस्थाविरोधी कार्यभारों के साथ जुड़ी व गुँथी हुई हो।

बड़े पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन के हाथों उजड़ते व तबाह होते छोटे–किसानों के प्रति अपनी कार्यनीति तय करने के लिये आइये विश्व सर्वहारा के एक महान शिक्षक की बात पर गौर करें,

"एक बात हमारे फ्रांसीसी साथी सोलहों आने ठीक कहते हैं : छोटे किसानों की **इच्छा के विरूद्ध** फ्रांस में स्थायी प्रकार का कोई भी क्रांतिकारी रद्दोबदल सम्भव नहीं है। पर यदि वे सचमुच किसानों को अपने प्रभाव में लाना चाहते हैं, तो मेरा खयाल है कि इसका सही साधन उनके पास नहीं है।

"ऐसा लगता है कि वे झटपट, बन पड़े तो अगले आम चुनाव तक ही, छोटे किसानों को अपनी ओर कर लेना चाहते हैं। ऐसा वे जोखिम भरे आश्वासनों के जरिये ही कर सकने की उम्मीद कर सकते हैं, और इन जोखिम भरे आश्वासनों के समर्थन में इनसे भी अधिक जोखिम भरे सैद्धान्तिक विचार पेश करने को मजबूर हैं। इसके बाद, गौर से देखने पर प्रकट होता है कि ये आश्वासन परस्पर विरोधी हैं (ऐसी स्थिति को बरकरार रखने का वादा किया जाता है, जिसका जैसा कि वे स्वयं ही कहते हैं– विनाश अवश्यसम्भावी है)। और जिन पगों की बात की जाती है, वे या तो पूरी तौर से बेकार हैं (जैसे सूदखोरी विरोधी कानून) या वे मजदूरों की आम मांगें हैं, या ऐसी मांगें हैं, जो बड़े जमींदारों के लिए भी हितकर हैं, अथवा वे ऐसी मांगे हैं जो छोटे किसानों के हित साधन के लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखती। फलतः कार्यक्रम का प्रत्यक्ष व्यावहारिक अंश उसके गलत आरंभिक अंश को संशोधन कर देता है और प्रस्तावना के प्रतीयमान तड़कीले–भड़कीले शब्दजाल को व्यवहार में सर्वथा निरीह बना देता है।

"आइये, साफ–साफ कह दें: हम छोटे किसानों के आम जन समुदाय को, उनकी सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति, उनकी खास ढंग की शिक्षा–दीक्षा और उनकी अलग–थलग जीवन–विधि से उत्पन्न पूर्वाग्रहों को देखते हुए, जिनको पूंजीवादी अखबार और बड़े जमींदार यत्नपूर्वक जीवित रखते और पुष्ट करते हैं, तभी झटपट अपने साथ ला सकते हैं, जबकि उनसे ऐसे वादे करें, जिनके बारे में हम खुद जानते हैं कि हम उनका पालन नहीं कर सकेंगे। यानी, हम उनसे यह वादा करें कि उन्हें आक्रान्त करनेवाली सभी आर्थिक शक्तियों से उनकी सम्पत्ति की हर हाल में रक्षा की जायेगी, बल्कि उन्हें उन भारों से भी मुक्त किया जायेगा, जिनसे वे पहले से ही दबे हुए हैं: काश्तकार को स्वतंत्र भूमिधर किसान बना दिया जायेगा और बन्धक के बोझ से दबकर दम तोड़ते हुए खेत के मालिकों के कर्जे भरे जायेंगे। **यदि हम ऐसा कर भी सकें, तो हम फिर उस बिन्दु पर पहुंच जायेंगे, जहां से वर्तमान स्थिति अनिवार्यतः फिर नये सिरे से उत्पन्न होगी।** हम किसान को मुक्ति नहीं, सिर्फ मोहल्लत दिलायेंगे।

"लेकिन हमारा हित इस बात में नहीं है कि किसानों को रातोंरात अपनी ओर कर लें, ताकि अगले ही दिन हमारे अपने वादे पूरे न हो सकने के कारण वे हाथ से निकल जायें। जिस तरह सदा के लिए स्वामी बनने का स्वप्न देखने वाला छोटा दस्तकार पार्टी सदस्य के रूप में हमारे लिए बेकार है, उसी तरह **वह किसान भी बेकार है, जो यह आशा करता है कि इम छोटी जोत रूपी उसकी सम्पत्ति को स्थायित्व प्रदान करेंगे**। ऐसे लोग तो यहूदी विरोधियों के उपयुक्त हैं। वे उन्हीं के पास जायें उनसे अपने छोटे–छोटे उद्यमों के उद्धार के वादे हासिल करें। जब उनके भड़कीले शब्दजाल को वास्तविक अर्थ उनको मालूम हो जायेगा और वे देख लेंगे कि यहूदी विरोधियों के स्वर्ग लोक से उनकी ओर कैसी संगीत–लहरी प्रवाहित की जाती है, तो वे अधिकाधिक मात्रा में अनुभव करेंगे कि कम वादे करने वाले तथा बिल्कुल भिन्न दिशा से मुक्ति की आशा करने वाले हम लोग अधिक विश्वसनीय हैं। यदि फ्रांसीसियों के यहां भी हमारे यहां की तरह यहूदी विरोधियों की गलाफाड़ नारे बाजी होती, तो वे नॉट वाली गलती न होने देते।

"तब फिर छोटे किसानों के प्रति हमारा क्या रुख हो? सत्तारूढ़ होने के दिन हमें उनके साथ किस तरह पेश आना होगा?

"पहले, फ्रांसीसी कार्यक्रम का निम्नांकित कथन बिल्कुल सही है : हम पहले से जानते हैं कि **छोटे किसान का विनाश अवश्यमभावी है, पर हमारा यह काम नहीं है कि अपनी ओर से किसी तरह का हस्तक्षेप करके उस दिन को नजदीक लायें।**

"दूसरे, यह भी उतना ही स्पष्ट है कि जब हमारे हाथों में राजसत्ता आयेगी, तब हम बलपूर्वक छोटे किसानों की सम्पत्ति (बामुआवजा या बिला मुआवजा) छीनने की – जो काम हमें बड़े जमीदारों के मामले में करना पड़ेगा – बात भी नहीं सोचेंगे। छोटे किसानों के सम्बन्ध में हमारा कार्य प्रथमतः उनके निजी उद्यम और निजी स्वामित्व को सहकारी उद्यम और स्वामित्व में अंतरित करना होगा, और यह बलपूर्वक नहीं, बल्कि उदाहरण पेश करके तथा सामाजिक सहायता देकर किया जायेगा। कहने की जरूरत नहीं कि उस समय छोटे किसानों को ऐसे भावी लाभ, जो उन्हें आज भी स्पष्ट होंगे, दिखाने के हमारे पास प्रचुर साधन होंगे।

"आज से प्रायः 20 वर्ष पूर्व डेनमार्क के समाजवादी, जिनके देश में वस्तुतः एक ही शहर, कोपेनहेगेन, है, और इसलिए जिन्हें प्रायः सम्पूर्णतः उसके बाहर, किसानों के बीच प्रचार कार्य पर निर्भर करना करना होता है, ऐसी ही योजनाएं तैयार कर रहे थे। गांव या पैरिश के किसान (डेनमार्क में अनेक बड़े–बड़े निजी फार्म हैं) अपनी–अपनी जमींन मिलाकर एक बड़ा फार्म संगठित करेंगे, जिस पर मिल जुल कर खेती की जायेगी और उपज उनकी भूमि, धन और श्रम के अनुपात में बांटी जायेगी। डेनमार्क में छोटी भूमि–सम्पत्ति गौण भूमिका अदा करती है। पर यदि उपरोक्त विचार को हम छोटी जोतों वाले किसी इलाके में प्रयोग में लाये, तो हम देखेंगे कि इन जोतों को मिलाकर कुल क्षेत्र

में बड़े पैमाने की खेती करने से अभी तक लगी श्रम–शक्ति का एक भाग बेकार बच रहेगा। श्रम की यह बचत ही बड़े पैमाने की कृषि का एक प्रधान लाभ है। इस श्रम शक्ति को दो तरीको से काम में लगाया जा सकता है। या तो पड़ोस की बड़ी जागीरों से अतिरिक्त जमीन लेकर वह किसानों के सहकारी संस्थान के हाथों में दी जाये, या, किसानों को गौण धन्धे के रूप में, प्रथमतः और जहां तक संभव हो, अपने ही इस्तेमाल के लिए, औद्योगिक कारोबार करने के साधन और अवसर प्रदान किये जायें। दोनों ही हालतों में उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती है और इसके साथ ही आम सामाजिक निर्देशन करने वाले निकाय को यह सुनिश्चित प्रभाव प्राप्त होता है कि वह किसानों के सहकारी संस्थान को उच्चतर स्तर के संस्थान में परिवर्तित कर सके, और पूरे सहकारी संस्थान के तथा उसके अलग–अलग सदस्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों को समूचे समुदाय के अन्य भागों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की बराबारी पर ला सके। अलग–अलग मामलों में इस पर किस तरह अमल किया जायेगा, यह उस मामले की परिस्थितियों पर तथा उन अवस्थाओं पर निर्भर करेगा, जिनके अन्तर्गत हम राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करेंगे। शायद इस तरह हम इन सहकारी संस्थाओं को और भी सुविधाएं प्रदान करने की स्थिति में हों : यानी उनके समूचे रेहन–कर्ज को राष्ट्रीय बैंक अपने जिम्मे ले सकता है और साथ ही ब्याज की दर में बहुत बड़ी कटौती की जा सकती है; बड़े पैमाने का उत्पादन आरम्भ करने के लिए सार्वजनिक कोषों से ऋण दिया जा सकता है (यह ऋण लाजिमी तौर से या मुख्यतः मुद्रा के रूप में न दिया जाकर आवश्यक सामानों मशीनों, कृत्रिम खादों, आदि के रूप में दिया जा सकता है); इसी प्रकार अन्य सुविधाएं भी दी जा सकती हैं।

"मुख्य बात यह है कि **किसानों को साफ–साफ समझा दिया जाय कि उनके घरों और खेतों को सहकारिता के आधार पर संचालित सहकारी सम्पत्ति में परिवर्तित करके ही हम उन्हें उनके लिए बचा सकते और बरकरार रख सकते हैं।** व्यक्तिगत स्वामित्व पर आधारित व्यक्तिगत कृषि ही किसानों का विनाश अवश्यम्भावी बनाती है। यदि वे व्यक्तिगत संचालन पर अड़े रहेंगे, तो वे अनिवार्यतः घर–द्वार से निकाल बाहर किये जायेंगे और बड़े पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन उनकी पुरानी–धुरानी उत्पादन पद्धति का स्थान ग्रहण कर लेगा। यही वस्तुस्थिति है। हम तो उन्हें स्वयं बड़े पैमाने का उत्पादन करने का अवसर प्रदान करते हैं, पूंजीपतियों के उपयोग के लिए नहीं, बल्कि स्वयं अपने सम्मिलित उपयोग के लिए। क्या किसानों को यह समझाना असम्भव है कि यह उनके ही हित में है, कि यही उनके उद्धार का एक मात्र मार्ग है?

"छोटी जोत वाले किसानों को न तो हम आज और न ही भविष्य में कभी यह आश्वासन दे सकते हैं कि पूंजीवादी उत्पादन की प्रचंड शक्ति से उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं उनके व्यक्तिगत उद्यम की रक्षा की जा सकती है। हम उन्हें इतना ही आश्वासन दे सकते हैं कि हम बलपूर्वक, उनकी इच्छा के विरूद्ध, उनके स्वामित्व सम्बन्धों में हस्तक्षेप

नहीं करेंगे। **इसके अलावा हम इस बात की हिमायत कर सकते हैं कि आइन्दा छोटे किसानों के विरूद्ध पूंजीपतियों और बड़े जमींदारों का संघर्ष अनुचित साधनों का कम से कम इस्तेमाल करते हुए चले और सीधे–सीधे की जाने वाली लूट–खसोट और ठगी, जो आजकल धड़ल्ले से चलती है, जहां तक सम्भव हो, बन्द हो जाये। अपने इस आग्रह में हम कुछ ही मामलों में, जो अपवादस्वरूप ही होंगे, सफल हो सकते हैं।** विकसित पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में यह कोई भी नहीं बता सकता कि ईमानदारी और ठगी की सीमा रेखा कहां पर है। पर इससे अवश्य बहुत बड़ा फर्क पड़ेगा कि राजनीतिक सत्ता किसके पक्ष में है–ठगे जाने वालों के पक्ष में, या ठगने वालों के पक्ष में। कहने की जरूरत नहीं कि हम निश्चित रूप से छोटे किसान के पक्ष में हैं; उसकी हालत को अधिक सह्य बनाने के लिए, यदि वह सहकारी रूप से खेती करने का निर्णय करता है, तो उसके लिए यह संक्रमण सहज और सुविधापूर्ण बनाने के लिए, यहां तक कि ऐसा निर्णय करने में उसके असमर्थ होने की सूरत में उसे इस मामले में गौर करने का वक्त देने के खयाल से उसे एक लम्बे अरसे तक जोत पर काबिज रहने देने के लिए भी वह सब कुछ करेंगे जो सम्भव है। हम यह सिर्फ इसलिए नहीं करेंगे कि छोटे किसान को जो अपना काम आप करता है, हम कार्यतः अपना समझते हैं, बल्कि इसलिए भी कि यह पार्टी के प्रत्यक्ष हित में है। **सर्वहारा की पातों में जबरन् ढकेले जाने से हम जितने ही अधिक किसानों को बचा सकें, जितने अधिक को किसान रहते हुए ही हम अपनी ओर कर सकें, उतनी ही जल्दी और आसानी से सामाजिक कायापलट सम्पन्न होगा।** इस कायापलट को तब तक टालने से, जब तक कि पूंजीवादी उत्पादन सर्वत्र अपनी चरम परिणति पर न पहुंच जाये और हर छोटा दस्तकार और हर छोटा किसान बड़े पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन का शिकार न बन जाय, हमारा कोई हित साधन नहीं होगा। इसके लिए किसानों के हितार्थ जो माली कुर्बानी करनी होगी , जिसकी पूर्ति सार्वजनिक कोष से की जायेगी, वह पूंजीवादी अर्थतंत्र के दृष्टिकोण से पैसों की बर्बादी मानी जा सकती है, किन्तु वस्तुतः वह धन का अत्युत्तम विनियोग है, क्योकि उससे आम सामाजिक पुनःसंगठन के खर्च में सम्भवतः दस गुनी बचत होगी। अतः इस अर्थ मे किसानों के साथ हम अत्यन्त उदारता का व्यवहार करने में समर्थ हैं। तफसील में जाने की, ठोस सुझाव रखने की यह जगह नहीं है, हम यहां आम सिद्धान्तों की ही विवेचना कर सकते हैं।

''अतः ऐसे वादे करने से, जैसे कि यह कि हम छोटी जोत को स्थायी रूप से बरकरार रखना चाहते हैं, हम पार्टी का और छोटे किसानों का और बड़ा अहित नहीं कर सकते। ऐसा करने का मतलब सीधे–सीधे किसानों की मुक्ति का मार्ग अवरूद्ध कर देना और पार्टी को हुल्लड़बाज यहूदी विरोधियों के निम्न स्तर पर ले आना होगा। इसके विपरीत, **हमारी पार्टी का यह कर्त्तव्य है कि किसानों को बारंबार स्पष्टता के साथ जताये कि पूंजीवाद का बोलबाला रहते हुए उनकी स्थिति पूर्णतया निराशापूर्ण है, कि उनकी छोटी जोतों को इस**

रूप में बरकरार रखना एकदम असम्भव है, कि बड़े पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन उनके छोटे उत्पादन की अशक्त, जीर्ण–शीर्ण प्रणाली को उसी तरह कुचल देगा, जिस तरह रेलगाड़ी ठेलागाड़ी को कुचल देती है। ऐसा करके हम आर्थिक विकास की अनिवार्य प्रवृत्ति के अनुरूप कार्य करेंगे। और यह विकास एक न एक दिन छोटे किसानों के मन मे हमारी बात को बिठाये बिना नहीं रह सकता।" (एंगेल्सः 'फ्रांस और जर्मनी मे किसानों का सवाल', मार्क्स–एंगेल्स संकलित रचनाएं, खण्ड–3 भाग.2, पृष्ठ.380–385, शब्दों पर जोर हमारा)

फ्रांसीसी व जर्मन कामरेडों की आलेचना करते हुए एंगेल्स द्वारा लिखे इस लेख के जिस अंश को हमने उद्धृत किया है, उसमें एंगेल्स ने एक महत्वपूर्ण बात यह स्थापित की है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को किसी भी स्थिति में किसानों से ऐसे वादे नहीं करने चाहिये जिन्हें पूरा न किया जा सके। दूसरी यह कि पूंजीवाद के रहते छोटी उत्पादक इकाइयों और उनके मालिकों को उजड़ने से नहीं बचाया जा सकता है, कि यदि किन्हीं प्रयासों से इन्हें कर्ज या अन्य समस्याओं से कुछ राहत दिलवा भी दी जाये तब भी वर्तमान विनाशकारी स्थिति नये सिरे से पुनः उत्पन्न होगी।

मगर एंगेल्स की नजर में यद्यपि बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा छोटे उत्पादकों की तबाही एक अपरिहार्य प्रक्रिया है तब भी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इसे त्वरित करने के लिए कोई कार्यवाही या बात नहीं करेंगे । एंगेल्स की नजर में सर्वहारा किसान से आगे का आदमीं है और वह ज्यादा उन्नत उत्पादन सम्बन्धों में बंधा होता है परन्तु तब भी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी किसान को जबरदस्ती धकेल कर सर्वहारा बनाने के पक्षधर नहीं हो सकते हैं (और न ही वे किसान के सर्वहारा में तबदील होने का इंतजार करेंगे) उल्टे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी छोटे किसान से उसकी किसान हैसियत में ही मित्रता करेंगे और उसे वह रास्ता सुझायेंगे जो कि छोटे पैमाने के उत्पादन को समाप्त करने का सबसे कम पीड़ादायी रास्ता है। वह रास्ता है क्रांति करके सत्तादखल के उपरांत सहकारिता–सामूहिकता का रास्ता। सैकड़ों छोटे किसान स्वैच्छिक तौर पर एक बड़ी सहकारी कमेटी में शामिल होकर, आपसी सहयोग से उत्पादन करते हुए बड़े पैमाने के उत्पादकों में रूपान्तरित हो जायेंगे जिसमें श्रम–शक्ति की बचत होगी और वे तरक्की कर सकेंगे। मगर एंगेल्स की नजर में यह सत्ता दखल के उपरांत ही उचित है। सत्तादखल के पहले एंगेल्स ऐसा कोई कदम उठाने का सुझाव नहीं देते हैं क्योंकि तब पूंजीवादी शोषण के नियमों पर लगाम लगाना संभव नहीं होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि एंगेल्स की नजर में छोटे किसान तबाही से एक ही सूरत में बच सकते हैं, और वह है क्रांति और सहकारिता के रास्ते पर चलते हुए। मगर इस बात का यह मतलब नहीं कि एंगेल्स के लिए 'पूंजीवादी उत्पादन की प्रचंड शक्ति' के बने रहते हुए, किसानों द्वारा किसी भी आंशिक मांग का उठाया जाना अनुचित या अर्थहीन है। उल्टे वे यह मानते हैं कि 'हम इस बात की हिमायत कर सकते हैं कि आइन्दा छोटे किसानों के विरूद्ध पूंजीपतियों और बड़े जमींदारों का संघर्ष अनुचित साधनों को कम से कम इस्तेमाल करते हुए चले और सीधे–सीधे की जाने वाली लूट–खसोट और ठगी, जो आजकल धड़ल्ले से चलती है, जहां तक संभव हो बन्द' करवायी जाये। छोटे किसानों की ऐसी आंशिक मांगों का

समर्थन करने के बावजूद एंगेल्स इस बात पर भी साफ हैं कि अपनी इन कोशिशों में 'हम कुछ ही मामलों में, जो अपवादस्वरूप ही होंगे, सफल हो सकते हैं।'

किसानों के साथ कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के संवाद के दौरान एंगेल्स नंगी क्रूर सच्चाई पर पर्दा डालने के कतई समर्थक नहीं हैं। वे कहते हैं कि कम्युनिस्ट 'पार्टी का यह कर्तव्य है कि किसानों को बारंबार स्पष्टता के साथ जताये कि पूंजीवाद का बोल–बाला रहते हुए उनकी स्थिति पूर्णतः निराशापूर्ण है, कि उनकी छोटी जोतों को इस रूप में बरकरार रखना एकदम असंभव है, कि बड़े पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन उनके छोटे पैमाने की अशक्त, जीर्ण–शीर्ण प्रणाली को उसी तरह कुचल देगा जिस तरह रेलगाड़ी ठेलागाड़ी को कुचल देती है'। हमें अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है कि वर्तमान कृषि संकट के दौरान किसानों को अपने सम्बोधन में देश के अधिकांश कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन एंगेल्स के ठीक इसी निर्देश का पालन नहीं कर रहे हैं। इस संकट के संदर्भ में किसानों को संबोधित पर्चों व लेखों में सरकार को उसकी किसान विरोधी नीतियों के लिए तो कोसा जाता है, परन्तु किसानों को उनकी अवश्यंम्भावी तबाही के प्रति सजग करके उन्हें क्रांति के और सहकारिता–सामूहिकता के जरिये बड़े उत्पादक बनने के लिए ललकारा नहीं जाता है। इस गलती को ठीक करना निहायत जरूरी है, वरना ना चाहते हुए भी इस गम्भीर मुद्दे पर हम क्रांतिकारी अवस्थिति रखने की जगह वस्तुतः सुधारवादी बातें कर रहे होते हैं।

V

लेख समाप्त करने से पहले मुख्य बातों का सारांश :

- किसानों द्वारा अपने शारीरिक अंगों की बिक्री एवं आत्महत्याएं,कृषि संकट की तीखी अभिव्यक्तियां हैं।
- यह कृषि संकट भारतीय कृषि के ठहराव की अभिव्यक्ति नहीं है। भारतीय कृषि के विकास की गति लगभग पहले जैसी ही है। वर्तमान कृषि संकट इस विकास के दौरान घटने वाली प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति है।
- इस संकट में अर्द्ध–सर्वहारा किसान, छोटे किसान एवं मझोले किसान तबाह हो रहे हैं।
- यह संकट केवल '90 के दशक के दौरान लागू की गयी 'नयी आर्थिक नीतियों' का परिणाम नहीं है। '90 के दशके के काफी पहले से सक्रिय दीर्घकालिक कारक भी इसके लिए जिम्मेदार हैं।
- भारतीय कृषि के पूंजीवादीकरण के दौरान ये दीर्घकालिक कारक सक्रिय हुए हैं। '90 के दशक की उदारीकरण–वैश्वीकरण परस्त नीतियों ने केन्द्रीकरण व संकेन्द्रणवादी प्रवृत्तियों को त्वरित किया है।
- संकट पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की आम गति का अंग होते हैं। ये पूंजीवाद में अन्तर्निहित होते हैं, और ये उसका विकास भी करते हैं।
- पूंजीवादी खेती के दौर के संकट और पुरानी प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के दौर के संकटों की प्रकृति में एक बड़ा अन्तर तीव्रता का है। अचानक उत्पन्न होने वाले तीव्र संकटों को, मेहनतकश अवाम के

आंदोलनों की कमजोर व निराशावादी स्थितियों में व्यक्तिगत टुटपुंजिया किसान के लिए मनोवैज्ञानिक स्तर पर झेल पाना बहुत कठिन होता है।

- संकटपूर्ण स्थितियों में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को अर्द्ध–सर्वहारा किसानों एवं छोटे किसानों को यह एहसास करवाना चाहिये कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली जब तक बनी रहेगी तब तक उनकी तबाही–बरबादी अनिवार्यतः होनी ही है। पूंजीवाद के रहते इससे बच पाना सम्भव नहीं।
- बरबादी–तबाही से बचने के लिए संकटग्रस्त किसानों को मजदूरों के साथ मिलकर पूंजीवाद विरोधी क्रांति करनी चाहिये और सत्तादखल के उपरांत सहकारिता–सामूहिकता के रास्ते पर आगे बढ़ते हुए बड़े पैमाने के उत्पादन को अपना लेना चाहिये। यही उनके उद्धार का एकमात्र एवं व्यवहारिक रास्ता है।
- संकटपूर्ण स्थितियों में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी किसानों की तबाही के प्रति तटस्थ रुख नहीं अपना सकते हैं। संकटपूर्ण स्थितियों में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को तबाह होते किसानों के बीच सक्रिय राजनीति करनी चाहिये।

□□□